प्रकाशक
अ० वा० सहस्रबुद्धे
मंत्री, अ० भा० सर्व-सेवा-संघ
वर्धा

पहली बार १५,०००
दिसम्बर, १९५५
मूल्य सवा रुपया

मुद्रक
सम्मेलन मुद्रणालय
प्रयाग

दो शब्द

●

इस पुस्तक मे शिक्षण सम्बन्धी मेरे विचारो का सग्रह किया गया है। इसमे के ५-७ लेख 'मधुकर' मे आ चुके हैं, फिर भी एकत्र सग्रह के लिए इसमे ले लिये गये है। मेरा सारा जीवन ही शिक्षण-कार्य मे बीता है और बीत रहा है। कभी आत्म-शिक्षण चला और कभी विद्यार्थियो का शिक्षण। इसलिए पाठको को इसमे केवल अनुभवपूर्ण विचार ही मिलेंगे, स्वच्छन्द विचार नही।

दस वर्ष के भीतर सारे देश मे नवीन शिक्षण चालू करने का सकल्प देश ने किया है। ऐसे अवसर पर यह पुस्तक बहुत उपयोगी होगी, ऐसी मै आशा करता हूँ।

पडाव डागरसुरुडा
(कोरापुट उडीसा)
३१-८-'५५

—विनोबा

अनुक्रम

शिक्षण-विचार

निवृत्त-शिक्षण   : १ :

[फ्रासीसी ग्रन्थकार रूसो की 'एमिली' नामक शिक्षाशास्त्रीय पुस्तक के वारे में एक सभा मे अध्यक्ष-पद से व्यक्त किये गये विचार साराश रूप में थोडे हेर-फेर के माथ यहाँ उद्धृत किये जा रहे है।]

रूसो की प्रतिभा

फ्रासीसी राज्यक्रान्ति के वारे मे रूसो और वाल्टेयर, इन दो ग्रन्थकारो के नाम काफी प्रसिद्ध हैं। इन ग्रन्थकारो की भाषा, विचार-शैली और लेखन-पद्धति तेजस्वी, सजीव और क्रान्तिकारी हैं। लोगो को उनकी लेखनी से जितनी दहशत रहती थी, उतनी वडे-वडे वलवान् नृपतियो के शस्त्र-वल से भी नही मालूम पडती थी। इनके लेखन का सक्रिय परिणाम ही फ्रासीसी राज्यक्रान्ति थी। इन दोनो ग्रन्थकारो मे रूसो वहुत ही भावना-प्रधान था। लेख लिखने के लिए कभी उसने भाषा-शास्त्र का अध्ययन नही किया। हृदय मे समा न सकने के कारण वाहर फूट पडने के लिए भीतर से धक्के देनेवाले ज्वालामुखी पर्वत के जाज्वल्य फेन की तरह, किम्वहुना उससे भी अधिक दाहक, उस लेखक के विचार उसकी इच्छा के विरुद्ध, उसके न चाहते हुए भी वाहर

निकल पड़ते थे। उसके लेखो में उसका हृदय बोलता था और इसलिए बौद्धिक या तार्किक कसौटी पर उनके न टिक सकने पर भी, इतिहास को भी मजूर करना ही पड़ता है कि वे 'जलती आग' रहे। उसके लेखो का एकमात्र सूत्र था मृत-जीवन की अपेक्षा जीवित-मृत्यु ही श्रेयस्कर है। ऐसे प्रभावशाली, प्रतिभावान् ग्रन्थकार के शिक्षाविषयक विचारो का गम्भीरतापूर्वक चितन करना हमारा कर्तव्य है।

शिक्षा के तीन विभाग

रूसो के मत से शिक्षा के तीन विभाग करने चाहिए (१) निसर्ग-शिक्षण, (२) व्यक्ति-शिक्षण और (३) व्यवहार-शिक्षण।

शरीर के भीतर के हरएक अवयव की पूर्ण और व्यवस्थित वृद्धि होना, इद्रियो का चतुर, चपल और कार्यकुशल बनना, विभिन्न मनोवृत्तियो का सर्वांगीण विकास होना, स्मृति, प्रज्ञा, मेधा, धृति, तर्क आदि बौद्धिक शक्तियो का प्रगल्भ और प्रखर बनना—इन सब नैसर्गिक या प्राकृतिक प्रवृत्तियो का, उसके मत से, निसर्ग-शिक्षा में अन्तर्भाव हो जाता है। दूसरे शब्दो मे मानव के भीतर-ही-भीतर होनेवाली शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक वृद्धि या आत्मिक विकास 'निसर्ग-शिक्षण' है।

इसी तरह मानव को बाह्य परिस्थिति से जो ज्ञान प्राप्त होता है और व्यवहार मे जो अनुभव मिलता है, उस समस्त पदार्थ-ज्ञान या भौतिक जानकारी को वह 'व्यवहार-शिक्षण' नाम देता है।

निसर्ग-शिक्षण से प्राप्त आत्म-विकास का, बाह्य व्यवहार ज्ञान की दृष्टि से बाह्य जगत् मे किस तरह उपयोग किया जाय, इस बारे मे अन्य मनुष्यो के प्रयत्नो का जो वाचिक, साम्प्रदायिक या शालेय (पाठशाला में मिलनेवाला) शिक्षण मिलता है, उसे उसने 'व्यक्ति-शिक्षण' सज्ञा दी है। यानी, उसकी दृष्टि से व्यक्ति-शिक्षण व्यवहार-शिक्षण और निसर्ग-शिक्षण के बीच की कडी है।

वस्तुत देखा जाय, तो यह कोई बहुत बडा मुद्दा नही कि रूसो ने शिक्षण के कितने विभाग किये। अमुक विषयो के अमुक विभाग करने चाहिए, यह कोई नियम नही। यह सारा सुविधा का प्रश्न है। अर्थात् दृष्टि-भेद से वर्गीकरण में भेद होना स्वाभाविक है। रूसो द्वारा किये गये तीन विभाग सर्वथा आवश्यक है, ऐसी भी बात नही। कारण, क्या व्यक्ति-शिक्षण और क्या व्यवहार-शिक्षण, दोनो मानव को बाहर से ही मिलते हैं। केवल निसर्ग-शिक्षण ही भीतर से मिलता है, यही कहना पडेगा। इस दृष्टि से अन्त शिक्षण और बाह्यशिक्षण, इस तरह दो विभाग करने मे क्या हानि है ? पर इससे भी कुछ आगे बढकर यह भी कहा जा सकता है कि चूंकि बाह्यशिक्षण केवल अभावात्मक और अन्त शिक्षण भावात्मक है, इसलिए शिक्षा का यही एक अन्त शिक्षण, सच्चा या तात्त्विक विभाग हो सकता है।

बाह्यशिक्षा का अखंड स्रोत

ऊपर जिसे बाह्य-शिक्षण कहा गया है, वह मानवो या पाठशालाओ द्वारा ही मिलता है, ऐसी बात नही। वास्तव मे

वही शिक्षण इस अनन्त विश्व के प्रत्येक पदार्थ से मानव को लगातार प्राप्त होता रहता है। उसमें कभी बाधा नहीं पडती। शेक्सपीयर के कथनानुसार बहते झरने मे प्रामादिक ग्रन्थ सग्रहीत है, पत्थरो में दर्शन छिपे हुए है और जितने भी पदार्थ है, सबमे शिक्षण के सारे तत्त्व भरे पडे है। वृक्ष, वनस्पति, फूल, नदियाँ, पहाड, आकाश, तारे—सभी अपने-अपने ढग से मनुष्य को शिक्षा दे रहे है। नैयायिको के अणु से लेकर साख्यो के महत्तत्त्व तक, रेखागणित के बिन्दु मे लेकर भूगोल के सिंधु तक और बचपन की भाषा मे कहना हो, तो "राम की चोटी से लेकर तुलसी के मूल तक"[१] सभी छोटे-बडे पदार्थ मानव के गुरु हैं। विचक्षण विज्ञानवेत्ताओ के दूरबीनो मे, व्यवहार-विशारदो के चर्म-चक्षुओ मे, कल्पना-कुशल कवियो के दिव्य-चक्षुओ मे या तार्किक तत्त्व-वेत्ताओ के ज्ञान-चक्षुओ मे जो-जो पदार्थ प्रतिभात होते या न होते हो, उन सभीसे हमें नित्य ही शिक्षा मिलती रहती है। यह विशाल सृष्टि परमेश्वर द्वारा हम सबकी शिक्षा के लिए हम लोगो के सामने खोलकर रखा हुआ एक शाश्वत, दिव्य, आश्चर्यमय और परम पवित्र ग्रन्थ है। उसके समक्ष वेद व्यर्थ है, कुरान रद्द है, बाइबिल निर्बल है।

बाह्य-शिक्षण अभावात्मक कार्य

पर यह ग्रन्थ-गगा कितनी ही गहरी हो, मानव अपने लोटे से ही उसमें का पानी भरेगा। इसलिए इस विश्व से बाह्यत

---

[१] महाराष्ट्र में बच्चे कसमें खाने या एक-दूसरे से स्पर्धा करने में इन विषयो का प्राय उपयोग करते पाये जाते है।

हमे वही और उतना ही शिक्षण मिलेगा, जिसके और जितनो के बीज हमारे 'भीतर' निहित होगे। यही हरएक का अनुभव है। हम-आप इतने विपय सीखते है, इतने ग्रथ पढते है, इतने विचार सुनते है और इतने पदार्थ देखते है, उनमे से कितने हमारे ध्यान में टिकते है ?

साराश, हम इस वाहरी दुनिया मे से जो कुछ सीखते है, वह सव भूल जाते है और उसकी जगह उसके सस्कारमात्र शेप रह जाते है। किंवहुना, शिक्षण यानी जानकारी मरकर, वचे हुए सस्कार ही है। ऐसा होने का कारण ऊपर वताया ही जा चुका है कि जो हमारे 'भीतर' नही है, उसका 'वाहर' से मिलना असभव है। इस तरह स्पप्ट है कि वाह्य-शिक्षण कोई स्वतत्र या तात्त्विक पदार्थ न होकर केवल अभावात्मक कार्य है।

सनातन वाद

अव ऐसी जगह पर सदैव दुहरा पेच खडा किया जाता है। यदि वाह्य-शिक्षण को मिथ्या कहा जाय, तो सस्कार वनने के लिए भी तो कुछ वाह्यनिमित्त, आलम्वन या आधार चाहिए। इसके विपरीत, वाह्य-शिक्षण को सत्य और भावरूप कहा जाय, तो ऊपर वताये अनुसार अन्तर्विकास के अनुकूल थोडा-सा अश ही, और वह भी सस्काररूप मे शेप रहता है। यानी दोनो पक्षो मे विप्रतिपत्ति (Dilemma—परस्पर विपरीत दो पक्षो की उपस्थिति) सिद्ध हो जाती है। ऐसी स्थिति मे प्रश्न होता है कि आखिर इन दोनो शिक्षणो का परस्पर कौन-सा सवध कहा जाय ?

पर यह वाद नया नही और इसीलिए उसका निष्कर्ष भी नया नही है। सभी शास्त्रो मे इस तरह के वाद पैदा होते रहते है और सर्वत्र उनका निष्कर्ष भी एक ही होता है। उदाहरणार्थ, 'सुख का बाह्य पदार्थों से क्या सबध है ?' इस वेदान्ती वाद को ही ले लीजिये। यहाँ भी यही पेच है। यदि कहे कि सुख बाह्य पदार्थों में है, तो उनसे सदैव सुख होना चाहिए, पर ऐसा नही होता। मानसिक स्थिति बिगडी रहे, तो अन्य समय में जो पदार्थ सुखकर प्रतीत होते है, वे पदार्थ भी सुख नही दे पाते। इसके विपरीत, यदि ऐसा कहें कि "बाह्य पदार्थों मे सुख नही, सुख एक मानसिक भावना है", तो वैसा नित्य अनुभव मे नही आता। शेक्सपीयर के कथनानुसार अगर इच्छा ही घोडा बनती, तो हर व्यक्ति घुडसवार हो जाता। पर वैसा नही होता, यह कठोर सत्य है। फिर यह प्रश्न हल कैसे किया जाय ?

इसी तरह, न्यायशास्त्र का एक उदाहरण लीजिये। 'मिट्टी और घडे का सबध क्या है ?'—यह प्रश्न है। यदि कहे कि जो 'मिट्टी सो घडा' तो मिट्टी से पानी भरिये ! और यदि कहे कि मिट्टी और चीज है तथा घडा और चीज, तो हमारी मिट्टी हमे दे दीजिये, अपना घडा ले जाइये ! ऐसी स्थिति में प्रश्न होता है कि आखिर दोनो का सबध क्या है ? यदि साफ-साफ कह दे कि कौन-सा सबध है, यह हम नही कह सकते, तो वह हमारा अज्ञान ही दीख पडेगा। इसलिए इस सबध का 'अनिर्वचनीय सबध'—यह भव्य, प्रशस्त और सस्कृत नाम है। किन्तु यह सबध अनिर्वचनीय होने पर भी जिस तरह एक पक्ष मे "वाचारम्भण विकारो नामधेय मृत्तिकेत्येव सत्यम्।" यानी मिट्टी तात्त्विक और घडा

मिथ्या इस तरह तारतम्य से निर्णय किया जाता है, ठीक उसी तरह, दूसरे पक्ष मे, अत शिक्षण भावरूप और वाह्य-शिक्षण अभावरूप कार्य है, ऐसा कहा जा सकता है।

वाह्य-शिक्षा का 'भाव' थोड़ा

किंतु ऐसा कहने पर एक और भी मूलोच्छेदक प्रश्न उठता है। हमने शिक्षण के दो विभाग किये हैं। उनमें अन्त शिक्षण या आत्मिक विकास भावरूप होने पर भी वह प्रत्येक व्यक्ति के भीतर-ही-भीतर हुआ करता है। उसके वारे मे हम कुछ भी नही कर सकते। उसका कुछ पाठ्यक्रम भी बनाया नही जा सकता, और बनाया भी जाय, तो उसका कार्यान्वित किया जाना सभव नही। बाह्य-शिक्षण सामान्यत और व्यक्ति-शिक्षण विशेषत अभावरूप निश्चित किया गया है। ऐसी स्थिति मे प्रश्न होता है कि "न हि शशकविषाण कोऽपि कस्मै ददाति"—कोई भी किसीको कभी खरगोश का सीग नही देता—इस न्याय से शिक्षण-विषयक सारा-का-सारा आन्दोलन क्या मूर्खता का प्रदर्शन ही कहा जाय ?

ऊपर-ऊपर से यह आक्षेप जैसा निरुत्तरणीय या अचूक मालूम पडता है, वास्तव में वैसा नही है। कारण हम जव वाह्य-शिक्षण को अभावात्मक कहते है, तव हम यह नही कहते कि वह कार्य ही नही है। वास्तव में वह कार्य है, उपयुक्त कार्य है, पर वह अभावात्मक कार्य है, यही हमारे कहने का तात्पर्य है। शिक्षा द्वारा कोई स्वतत्र तत्त्व उत्पन्न नही करना है, प्रत्युत निद्रित तत्त्वो को जाग्रत करना है। तो यही कहना

है कि लोग जिस अर्थ मे शिक्षा का उपयोग समझते है, उस अर्थ मे उसका उपयोग नही है। पर इतने मात्र मे शिक्षण निरुपयोगी नही होता। उग्र सुधारवादियो के विधवा-विवाहोत्तेजन को समाज-शिक्षक कर्वे का 'विधवा-विवाह प्रतिबन्ध-निवारण' निरुपयोगी प्रतीत होने पर भी वास्तव में वह उपयोगी ही है, इसे अस्वीकार नही किया जा सकता। सारांश, शिक्षण उत्तेजक दवा न होकर, प्रतिबन्ध-निवारक उपाय है।

रस्किन ने शिल्पकला की भी ऐसी ही व्याख्या की है। शिल्पकार को पत्थर या मिट्टी में मूर्ति उत्पन्न नही करनी होती, वह उसमें विद्यमान है ही। केवल छिपी हुई है। उसे प्रकट करने का काम शिल्पकार का है। इस तरह स्पष्ट दीखता है कि शिक्षण अभावात्मक होने पर भी उपयुक्त है और प्रतिबन्ध-निवारण के नाते ही क्यो न हो, उसे थोडी भावात्मकता भी प्राप्त है। यही अर्थ ध्यान मे रखकर शिक्षण "तारतम्य से अभावात्मक" है, ऐसा सावधानी की भाषा में ऊपर कहा गया। "आत्म-विकास के अर्थ में शिक्षण अभावात्मक है अर्थात् उसका भाव बहुत थोडा है।"

मूर्खतापूर्ण पद्धति

पर चूंकि हम लोगो ने शिक्षण का भाव बेहद बढा दिया, इसलिए आज की हमारी शिक्षा-पद्धति अत्यत अस्वाभाविक, विपरीत और हास्यास्पद हो गयी है। बच्चे की स्मरण-शक्ति तीव्र दीख पडते ही उसे अधिक-से-अधिक पाठ करने को उत्तेजित

किया जाता है। तब पिता को ऐसा लगता है कि इस बच्चे के मस्तिष्क मे कितना ठूँसे और कितना नही ? शालेय शिक्षा-पद्धति में भी यही ढग अपनाया जाता है और इसके विपरीत अगर छात्र मद-बुद्धि हो, तो जान-बूझकर उसकी निश्चय ही उपेक्षा की जाती है। बुद्धिमान् कहे जानेवाले छात्र कॉलेज पहुँचने तक किसी तरह टिक पाते हैं, पर आगे प्राय वे पिछड ही जाते हैं। कॉलेज मे वे यदि न पिछडे, तो आगे व्यवहार में निस्सत्त्व सिद्ध होकर ही रहते है। इसका एकमात्र कारण उनकी कोमल बुद्धि पर फालतू बोझ डालना ही है। घोडा चपल है, ठीक से चल रहा है, तो उससे छेडछाड करने की जरूरत नही। पर वैसा न करके घोडा चपल है न ? फिर लगाइये उसे चाबुक। इससे क्या होगा ? घोडा भडककर गड्ढे में जा गिरेगा और मालिक को भी जा गिरायेगा। यह मूर्खतापूर्ण जगली पद्धति, कम-से-कम राष्ट्रीय पाठशालाओ में तो बन्द ही होनी चाहिए।

शिक्षा का रहस्य

वस्तुत छात्र का जैसे ही यह भाव हुआ कि मैं शिक्षा ग्रहण कर रहा हूँ, तो यह समझ लें कि शिक्षा का सारा मजा ही किरकिरा हो गया। छोटे बच्चो के लिए खेलना उत्तम व्यायाम कहा जाता है, इसका भी रहस्य यही है। खेलने मे व्यायाम तो हो जाता है, पर 'हम व्यायाम कर रहे हैं', ऐसा अनुभव नही होता। खेलते समय आसपास की दुनिया मर गयी होती हैं। बच्चे तद्रूप होकर अद्वैत का अनुभव करते रहते हैं। देह की सुध-बुध नही रह जाती भूख, प्यास, थकान, पीडा, कुछ

भी मालूम नही पडती। साराश, खेल का अर्थ आनन्द या मनोरजन रहता है। वह व्यायामरूप कर्तव्य नही वन पाता। यही वात सभी प्रकार की शिक्षाओ पर लागू करनी चाहिए। शिक्षा एक कर्तव्य है, ऐसी कृत्रिम भावना की अपेक्षा शिक्षा का अर्थ आनद है, यह प्राकृतिक और उत्साहभरी भावना पैदा होनी चाहिए। पर क्या हम लोगो के वच्चो मे आज ऐसी भावना दीख पडती है ? 'शिक्षण आनद है' यह तो दूर, 'शिक्षण कर्तव्य है', यह भावना भी आज प्राय दिखाई नही पडती। आज के छात्रवर्ग मे गुलामगिरी की एकमात्र यह भावना प्रचलित है कि शिक्षा यानी "सजा"। वच्चा ज्यो ही कुछ जिन्दादिली या स्वतत्र प्रवृत्ति की झलक दिखाने लगता है, त्यो ही घरवाले कहने लगते हैं 'इसे अव पाठशाला में वाँधे रखना चाहिए।' पाठशाला माने क्या ? 'वाँध रखने की जगह !' अर्थात् इस पवित्र कार्य मे हाथ वँटानेवाले शिक्षक हुए इस सदर जेल के छोटे-वडे अधिकारी !

शिक्षा का काम

पर यह दोप है किसका ? शिक्षणविपयक हमारे जो मत है और तदनुसार हमने जिस पद्धति का या पद्धति के अभाव का अवलम्बन किया, उसीका यह दोष है। छात्र की शिक्षा अनजाने या सहज होनी चाहिए। वचपन मे वालक अपनी मातृभापा जिस सहज-पद्धति से सीखता है, उसकी आगे की शिक्षा भी उसी सहज-पद्धति से होनी चाहिए। नन्हा वच्चा व्याकरण का अर्थ नही जानता। पर वह कभी "माँ आया" ऐसा नही कहता।

मतलब यह कि वह व्याकरण समझता है। भले ही उसे 'व्याकरण' शब्द न मालूम हो और व्याकरण की परिभाषा अवगत न हो, पर व्याकरण का मुख्य कार्य सम्पन्न हो चुका है।

ध्यान रहे कि साध्य और साधन मे उलट-पुलट न हो। साध्य के लिए ही साधन होते हैं, साधन के लिए साध्य नही। यही बात तर्क की है। आखिर गौतम के न्यायसूत्र या अरस्तू का तर्कशास्त्र क्यो पढा जाता है? इसीलिए न कि व्यवस्थित विचार कर पाये, विशुद्ध अनुमान निकाल सके? दीपक मन्द होने लगे, तो बालक को भी यह अनुमान हो सकता है कि 'वहुधा उसमे तेल न होगा।' उसके मस्तिष्क में सारा तर्क रहता ही है। यह ठीक है कि वह पचावयव[1] वाक्यो या "सिलॉजिज्म" की रचना कर दिखा नही सकता, फिर भी छात्रो मे तर्क-शक्ति मूलत ही रहती है। शिक्षा का इतना ही काम है कि उसे (तर्क-शक्ति को) बार-बार खाद्य मिलने के अवसर ला दिये जायँ। सभी शास्त्र, सभी कलाएँ, सभी सद्गुण, बीजरूप से मानव में स्वयसिद्ध ही हैं। हमे वह बीज नही दीखता, पर इसीलिए बीज नही है, ऐसी बात नही।

---

[1] न्यायशास्त्र में दूसरे को बोध कराने के लिए अनुमान है। निम्न-लिखित पांच अवयवो से युक्त वाक्यों का प्रयोग किया जाता है। १ प्रतिज्ञा, २ हेतु, ३ उदाहरण, ४ उपनय और ५ निगमन। जैसे, पर्वत अग्निमान् है धुआँ होने से, जहाँ धुआँ रहता है, वहाँ आग रहती है, यथा रसोईघर। यह पर्वत कभी आग को न छोड रहनेवाले धुएँ से युक्त है, इसलिए यह पर्वत अग्निमान् है।

रूसो का विचार-दोष

किन्तु कई बार ऐसा दीखता है कि रूसो को यह मत पसंद नहीं है। कारण, वह कभी-कभी इस तरह की भी भाषा का प्रयोग करता रहता है कि मानव स्वभावतः दुर्बल और अनीतिमान् है। शिक्षा से उसे बलवान् या नीतिमान् बनाना है। मूलतः वह पशु है, पर उसे मनुष्य बनाना है। "पापोऽहं पापकर्माऽहं पापात्मा पापसंभव"—मैं पाप हूँ, पाप करनेवाला हूँ, पापात्मा हूँ और पाप से पैदा हुआ हूँ। यह उसका पूर्वरूप है। उसका उत्तररूप शिक्षा से उत्पन्न होनेवाला है। ऐसी भाषा उसने कहीं-कहीं लिखी है। इसके विरोधी वाक्य भी उसके ग्रंथ में नहीं दीखते, यह बात नहीं। इसलिए 'उसका यही मत है' यह कहना कठिन है।

फिर भी उसका यही मत हो, तो उसमें उसका अपना दोष नहीं, बल्कि समय और परिस्थिति का वह दोष है, यह कहने की गुंजाइश है। स्वतंत्र बुद्धिमान् लोग भी 'परिस्थिति के गुलाम' न कहे जायँ, तो भी परिस्थिति से बने हुए रहते ही हैं। फिर रूसो के समय फ्रांस की स्थिति कितनी भीषण थी। आज भारत में जिस तरह इकतीस करोड़ जन्तुओं का भीषण दृश्य दीखता है, फ्रांस की भी उस समय ऐसी ही स्थिति थी। फलतः रूसो जैसे ज्वालामुखी, उग्र और भीषण तड़पन रखनेवाले मानव का भावनामय, विकारी हृदय मानव-जाति के तिरस्कार से भर गया हो, तो वह क्षम्य है। गुलामगिरी देखते ही उसे चिढ़ हो आती, उसका खून खौल उठता और चित्तवृत्ति काबू के बाहर

हो जाती थी। ऐसी स्थिति मे मानव-जाति के तिरस्कार से उसका यह मत बन गया हो कि 'मानव एक जानवर होकर शिक्षण से थोडा-बहुत आदमी बनता है' तो उसका मतलब हम भलीभाँति समझ सकते है। पर रूसो के बारे मे हमे कितनी भी सहानुभूति क्यो न हो, उसका ऐसा मत, फिर वह किसी भी या कैसी भी स्थिति मे क्यो न कहा गया हो, निस्सदेह अनुचित है।

मानव स्वभावतः दुष्ट नहीं

मानव को स्वभावत दुष्ट मानने मे निखिल मानव-जाति का अपमान तो है ही, निराशावाद भी इसमें कमाल का है। मानव मूलत दुष्ट हो, तो शिक्षा की कोई आशा नही रह जाती। चूंकि तार्किक दृष्टि मे किसी वस्तु से उसका स्वभाव सदा के लिए अलग कर देना असम्भव है, इसलिए यदि मानव-स्वभाव मूलत दुष्ट हो, तो उसके सुधार के सारे प्रयत्न व्यर्थ सिद्ध होकर निराशा-वाद का और साथ ही पाशविक वृत्ति का साम्राज्य शुरू हो जायगा। कारण, शिक्षण की आशा समाप्त होने का अर्थ ही है, दण्ड-राज्य की स्थापना।

आजकल कितने ही लोग आवेश मे कहते है कि 'हम लोगो का ब्रिटिश-सरकार पर से सदा के लिए विश्वास उठ गया।' सुदैव से उनका यह कहना केवल आवेश का ही होता है। यदि वह सच्चा होता, तो किसी भी शान्तिमय आन्दोलन का मतलब 'निराशा का कर्मयोग' मात्र रह जाता। स्वावलबन की दृष्टि से यह कहना ठीक है कि 'सरकार पर विश्वास करने से काम नही हो सकता।' पर यदि इसका अर्थ यह हो कि हमारा दृढ विश्वास

हो गया कि 'अंग्रेजों को हृदय नहीं, उनमें कभी भी सुधार हो नहीं सकता' तो अहिंसात्मक आन्दोलन का अर्थ—लाइलाज का इलाज होगा। 'प्रत्येक मानव को आत्मा है' यही मौलिक कल्पना सत्याग्रह या शिक्षा का मुख्य आधार है। जिस तरह शत्रुओं को आत्मा न होने का निश्चय होने पर सत्याग्रह मर जायगा ठीक उसी तरह मनुष्य के स्वभावतः दुष्ट होने पर शिक्षण की भी अविनाश आशा नष्ट हो जायगी। फिर "छड़ी लागे चम् चम्, विद्या आये धम् धम्", यही एक वाक्य शिक्षण का यथार्थ सूत्र निश्चित होगा। इसलिए विचार-शील तत्त्वज्ञों एवं शिक्षाविदों का यही सुनिश्चित निर्णय है कि मानवीय मन में पूर्णता के सभी तत्त्व बीजरूप से स्वतःसिद्ध हैं।

सहज-शिक्षा ही सच्ची शिक्षा

यह गाम्भीर सिद्धान्त स्वीकार कर लेने पर जिस तरह आज की हास्यास्पद शिक्षण-पद्धति गलत सिद्ध होती है उसी तरह 'शिक्षा का कार्य सुयोग्य नागरिक बनाना है', ऐसे आत्म-समाविन सिद्धान्त भी निराधार सिद्ध होते हैं। मानवीय मूर्खता की यह महिमा देखिये कि हम बच्चों को कुछ भी शिक्षण देते हैं बच्चों के मन पर किसी-न-किसी भी प्रभाव बैठ जाता है और हम उस प्रभाव और अपने शिक्षण का समीकरण कर 'अस्माकमेवायं विजयः' —यह हमारी ही विजय है, 'अस्माकमेवायं महिमा'—हमारी ही यह महिमा है, ऐसा कहकर नाच उठते हैं। पीछे कहा जा चुका है कि शिक्षा देने की पद्धति ऐसी हो कि छात्रों में यह भावना ही न उत्पन्न हो कि 'हम शिक्षा पा रहे

है।' ऐसा होने के लिए, उसीके साथ-साथ शिक्षक के मन में भी गुरुत्व की यह अस्पष्ट भावना न रहे कि "मै छात्रो को शिक्षा दे दे रहा हूं।" गुरु के स्वय अनन्य और सहज शिक्षक हुए बगैर छात्रो को भी सहज-शिक्षण मिल नही सकता।

जब आपसे (छात्रो से) यह कहा जाता है कि 'हम फ्रोबेल, पेंस्टॉलॉजी या मॉन्टेसरी की पद्धति से शिक्षा दे रहे हैं' तो आप खुशी से यह समझ लें कि यह केवल वाणी का श्रम है, यह शब्द-शिक्षण है, यह किसी भी पद्धति की अर्थशून्य नकल है, यह प्रेत है, इसमे प्राण नही है। शिक्षण यानी बीजगणित का कोई फार्मूला (सूत्र) नही कि उसे लगाते ही उत्तर तैयार ! आज दी जाने-वाली शिक्षा शिक्षा ही नही और न उसे देने की वर्तमान पद्धति ही वास्तविक पद्धति है। 'भीतर की दौड, जो स्वभावत बाहर उमड पडती है', वही शिक्षण है ।

शिक्षा का अनिर्वचनीय स्वरूप

यह सहज-शिक्षण सदोषमपि—सदोष होने पर भी—चल सकता है, पर विशिप्ट पद्धति से गुलामो द्वारा, व्यवस्थित ढग से मिलनेवाला अज्ञान कतई नही चाहिए। कारण, आखिर शास्त्र क्या है ? शास्त्र का अर्थ है, 'व्यवस्थित अज्ञान'। इसके सिवा शास्त्र का कोई और अर्थ है क्या ? शिक्षण-शास्त्रवेत्ता स्पेन्सर शिक्षा-शास्त्र के बारे में लिखता है कि 'शिक्षा से अलौकिक व्यक्ति निर्माण नही होते।' फिर ऐसे शास्त्रो को शास्त्र की दृप्टि से कितनी कीमत दी जा सकेगी ? वास्तव में तो शास्त्र की यह प्रतिज्ञा होनी चाहिए—"एतद् बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात् कृत-

कृत्यश्च भारत"—अर्जुन ! इसे जानकर बुद्धिमान् और कृतकृत्य हो जाओगे। जो शास्त्र ऐसी प्रतिज्ञा नही कर पाता, वह शास्त्र साफ-साफ लोगो की आँखो मे धूल झोकने का सुव्यवस्थित यत्न ही है। शेक्सपीयर ने किस नाटचशास्त्र का अध्ययन किया था ? क्या कोई कभी अलकारशास्त्र के नियम रटकर प्रतिभावान् कवि या काव्य-रसिक बना है ? 'शास्त्र', 'पद्धति' का शब्द-सृष्टि से अधिक कुछ भी अर्थ या महत्व नही। यह केवल भ्रम है। 'यास्तेषा स्वैरकथास्ता एव भवन्ति शास्त्राणि' भर्तृहरि का यह बडा ही मार्मिक वचन है कि श्रेष्ठ पुरुषो की स्वैर कथाएँ ही शास्त्र है। इस प्रसग मे वही सच्चे अर्थ मे लागू होता है।

'जो विना किसी पद्धति के पद्धतियुक्त या व्यवस्थित बनता है, जिसे कोई भी गुरु दे नही सकता, फिर भी जो दिया जाता है', शिक्षण का यही अनिर्वचनीय स्वरूप है ? इसीलिए दिव्यदृष्टिसम्पन्न महात्माओ ने यही उद्गार व्यक्त किये कि शिक्षा कैसे दी जाय, यह हम नही जानते—"न विजानीम " (केन उपनिषद्। शिक्षा-पद्धति, पाठचक्रम समय-पत्रक—ये सब अर्थशून्य शब्द है। इनमे सिवा आत्म-वचना के और कुछ नही है। जीने की क्रियाये में ही शिक्षा मिलनी चाहिए। जब जीने की क्रिया से भिन्न 'शिक्षण' नाम की कोई स्वतत्र क्रिया बन जाती है तब किसी विजातीय द्रव्य के शरीर मे प्रविष्ट होने पर सभाव्य दुष्परिणाम की तरह शिक्षा का भी मन पर विषैला और रोगयुक्त प्रभाव पडता है। कर्म की कसरत किये बगैर ज्ञान की भूख नही लगती और वैसी स्थिति मे जो ज्ञान विजातीय रूप मे भीतर घुस पडता है, पचनेद्रियो मे उसे पचाने की ताकत नही रहती।

अगर केवल पुस्तकें मस्तिष्क मे ठूंसने से मानव ज्ञानी वनता, तो लायब्रेरी की आलमारियाँ ज्ञानी बन जाती। जवरदस्ती ठूंसे हुए ज्ञान से तो अपचन होकर 'वौद्धिक पेचिश' ही शुरू होती और मानव की 'नैतिक मृत्यु' हो जाती है।

× × ×

निवृत्त-शिक्षण की व्याख्या

जो वात छात्रो की शिक्षा के लिए लागू होती है वही लोक-शिक्षण या लोक-सग्रह के लिए भी लागू होती है। महापुरुषो की दृष्टि से समाज वहुत ही नन्हा वच्चा है। भीष्माचार्य आमरण-ब्रह्मचारी रहे। जव कि कहते है कि विना पुत्र के सद्गति नही, तव भीष्माचार्य को कैसे सद्गति मिलेगी ? ऐसी दीर्घ शका उत्पन्न होने पर यही समाधान किया गया कि भीष्माचार्य सारे समाज के लिए पिता के समान थे, अत हम-आप सभी उनके पुत्र हो गये। इसलिए लोक-सग्रह का प्रश्न यानी महापुरुषो की दृष्टि से छोटे वच्चो को शिक्षण देने का ही प्रश्न है। पर आज शैक्षणिक प्रश्न की तरह लोक सग्रह को भी एक वडा हौवा वनाकर ज्ञानी पुरुषो पर ही उसकी जिम्मेवारी है, यह कहने का सम्प्रदाय-सा चल पडा है।

वास्तव में लोक-सग्रह किसी व्यक्ति-विशेष पर अडा नही वैठा है। 'लोक-सग्रह मुझ पर अवलम्वित है', यह मानना ठीक इसी तरह होगा कि टिड्डी यह माने कि मेरे ऊपर ही आकाश टिका है और इसीलिए वह अपने को उल्टा टांग ले। 'कर्ता-हम्' —मै कर्ता हूं, यह कहना अज्ञान का लक्षण है, ज्ञान का नही। अधिक क्या, जहाँ 'कर्ताऽहम्' यह भावना जाग्रत है, वहाँ सच्चा

कर्तृत्व रह ही नही सकता। शिक्षण की ही तरह लोक-सग्रह भी अभावात्मक या प्रतिबध-निवारणात्मक कार्य है। यही कारण है कि श्री शकराचार्य ने लोक-सग्रह का यह निवर्तक स्वरूप दिखलाया है, "लोकस्य उन्मार्गप्रवृत्तिनिवारण लोक-सग्रह"—लोगो की बुरे मार्ग की ओर होनेवाली प्रवृत्ति का निवारण ही लोक-सग्रह है।

तथ्य यह है कि जिस तरह सच्चा शिक्षक शिक्षा देता नही, उसके पास से स्वय शिक्षा प्राप्त हो जाती है, ठीक उसी तरह ज्ञानी पुरुष भी स्वय लोक-सग्रह नही करता, वह उसके हाथो अनायास हो जाता है। सूर्य स्वय किसीको प्रकाश नही देता, उसमे स्वाभाविक रूप से सबको प्रकाश प्राप्त हो जाता है। इस अभावात्मक कर्मयोग को ही गीता ने 'सहज कर्म' कहा है और मनु ने इसी सहज कर्म को 'निवृत्त-कर्म' की बडी ही सुहावनी सज्ञा दी है। 'निवृत्त-शिक्षण' भी उसी ढग पर बनी हुई सज्ञा है। इस प्रकार का निवृत्त-शिक्षण देनेवाले आचार्य ही समाज के गुरु हैं। ये ही समाज के पिता हैं। अन्य भाडे के गुरु न तो गुरु ही है और न जन्मदाता पिता पिता ही है। ऐसे गुरु के चरणो मे बैठकर जिन्हे शिक्षा मिली हो, वे ही "मातृमान्, पितृमान्, आचार्यवान्", इस गौरव के पात्र हैं। शेष सभी अनाथ बच्चो की तरह है। सभी अशिक्षित है। भला ऐसा उदार शिक्षण पाने का सौभाग्य कितनो को मिलता है?

—'महाराष्ट्र-धर्म'
४ अक, जनवरी, १९२३

केवल शिक्षण : २ :

एक देशसेवाभिलाषी से किसीने पूछा—"कहिये, अपनी समझ से आप कौनसा काम अच्छा कर सकते है ?"

उस तरुण गृहस्थ ने उत्तर दिया—"मेरा खयाल है, मै केवल शिक्षण का काम कर सकता हू और उसका मुझे शौक है।"

"यह तो ठीक है, कारण अक्सर आदमी को जो आता है, मजबूरन उसका उसे शौक होता ही है, पर यह कहिये कि आप दूसरा कोई काम कर सकेंगे या नही ?"

"जी नही ! मुझे दूसरा कोई काम करना नही आयेगा, मै सिर्फ सिखा सकूंगा और मुझे विश्वास है कि यह काम मै अच्छा कर सकूंगा।"

"हाँ, हाँ, अच्छा सिखाने मे क्या शक है, पर अच्छा क्या सिखा सकेंगे ? कातना, धुनना, बुनना अच्छा सिखा सकेंगे ?"

"नही, वह सिखाना नही आता।"

"तब सिलाई ? रगाई ? बढईगिरी ?"

"नही, यह सब कुछ नही।"

"रसोई बनाना, पीसना वगैरा घरेलू काम सिखा सकेंगे ?"

"नही, काम के नाम से तो मैने कुछ किया ही नही, मै केवल शिक्षण का ......"

"भाई, जो-जो पूछा जाता है, उसी-उसीमे 'नही, नही' कहते हो और कहे जाते हो 'केवल शिक्षण का काम कर सकता हूं' इसके माने क्या है ? बागवानी सिखा सकेंगे ?"

देशसेवाभिलाषी ने जरा चिढकर कहा—"यह क्या पूछ रहे

हे ? मैंने शुरू मे ही तो कह दिया, मुझे दूसरा कोई काम करना नही आता । मै साहित्य सिखा सकता हूँ ।"

प्रश्नकर्ता ने जरा मजाक से कहा—"यह ठीक कहा । अब आपकी बात कुछ तो समझ मे आयी । आप रामचरितमानस जैसी पुस्तक लिखना सिखा सकते हे ?"

अब देशसेवाभिलाषी महाशय का पारा गरम हो उठा और उनके मुँह से कुछ ऊटपटाँग निकलने को ही था कि प्रश्नकर्ता बीच मे ही बोल उठा—"शांति, क्षमा, तितिक्षा रखना सिखा सकेंगे ?"

अब तो हद हो गयी । आग में जैसे मिट्टी का तेल डाल दिया हो । आग भभकने को ही थी कि प्रश्नकर्ता ने तुरत उसे पानी डालकर बुझा दिया । "मै आपकी बात समझा । आप लिखना-पढना आदि सिखा सकेंगे । इसका भी जीवन मे थोडा-सा उपयोग है । बिलकुल न हो, ऐसा नही है, खैर, आप बुनाई सीखने को तैयार हे ?"

"अब कोई नयी चीज सीखने का हौसला नही है । फिर बुनाई का काम तो मुझे आने का ही नही, क्योकि आज तक हाथ को ऐसी कोई आदत ही नही ।"

"माना, इस कारण सीखने मे कुछ ज्यादा वक्त लगेगा, लेकिन इसमे न आने की क्या बात है ?"

"मै तो समझता हू कि यह काम मुझे नही ही आयेगा । पर मान लीजिये, बडी मेहनत करने मे आया भी, तो मुझे इसमे बडा झझट मालूम होता है । इसलिए मुझसे यह नही होगा, ऐसा ही आप समझिये ।"

"ठीक है जैसे लिखना सिखाने को आप तैयार हैं, वैसे खुद लिखने का काम कर सकते हैं ?"

"हाँ, जरूर कर सकता हूं, लेकिन सिर्फ बैठे-बैठे लिखते रहने का काम भी है झझटी, फिर भी उसके करने मे कोई आपत्ति नही है।"

यह वातचीत यही समाप्त हो गयी। नतीजा इसका क्या हुआ, यह जानने की हमे जरूरत नही।

शिक्षको की मनोवृत्ति समझने के लिए यह वातचीत काफी है।

आज के शिक्षक का चित्र

आज के शिक्षक का अर्थ है

(१) किसी तरह की भी जीवनोपयोगी क्रियाशीलता से शून्य, (२) कोई काम की नयी चीज सीखने में स्वभावत असमर्थ और क्रियाशीलता से सदा के लिए उकताया हुआ, (३) केवल शिक्षण का घमड रखनेवाला, (४) पुस्तको मे गडा हुआ और (५) आलसी जीव।

केवल शिक्षण का मतलव है, जीवन से तोडकर विलगाया हुआ मुर्दा, शिक्षण और शिक्षक के मानी 'मृत-जीवी' मनुष्य।

बुद्धिजीवी और मृतजीवी में फर्क

'मृत-जीवी' को ही कोई-कोई 'वुद्धि-जीवी' कहते हैं। पर यह है, वाणी का व्यभिचार। वुद्धि-जीवी कौन है ? कोई गौतम-वुद्ध, कोई सुकरात, शकराचार्य अथवा ज्ञानेश्वर वुद्धि-जीवन की

ज्योति जगाकर दिखाते है। गीता मे बुद्धिग्राह्य जीवन का अर्थ अतीन्द्रिय जीवन बतलाया है। जो इद्रियो का गुलाम है, जो देहाशक्ति से बोझिल है, वह बुद्धि-जीवी नही है। बुद्धि का पति आत्मा है, उसे छोडकर जो बुद्धि देह के द्वार की दासी हो गयी है, वह बुद्धि व्यभिचारिणी बुद्धि है। ऐसी व्यभिचारिणी बुद्धि का जीवन ही मरण है और उसे जीनेवाला है मृत-जीवी। 'केवल शिक्षण' पर जीनेवाले जीव विशेष अर्थ मे मृत-जीवी हैं। इन 'केवल शिक्षण पर जीनेवालो' को मनु ने 'मृतका-ध्यापक' या 'वेतन-भोगी' शिक्षक नाम देकर, श्राद्ध के काम मे इनका निषेध किया है। ठीक ही है। श्राद्ध मे तो मृत-पूर्वजो की स्मृति को जिंदा करना रहता है और जिन्होने प्रत्यक्ष जीवन को मृत कर दिखाया है, उनका इस काम में क्या उपयोग ?

आचार्य की व्याख्या

शिक्षको को पहले 'आचार्य' कहा जाता था। आचार्य अर्थात् आचारवान् । स्वय आदर्श जीवन का आचरण करते हुए राष्ट्र से उसका आचरण करा लेनेवाला ही आचार्य है। ऐसे आचार्यों के पुरुषार्थ से ही राष्ट्रो का निर्माण हुआ है। आज हिन्दुस्तान की नयी तह बैठानी है। राष्ट्र-निर्माण का काम आज हमारे सामने है। आचारवान् शिक्षको के बिना वह सभव नही ।

तभी तो राष्ट्रीय शिक्षण का प्रश्न सबसे महत्त्वपूर्ण है। उसकी व्याख्या और उसकी व्याप्ति हमे अच्छी तरह समझ लेनी चाहिए। राष्ट्र का सुशिक्षित वर्ग निष्प्रभ और निष्क्रिय होता

जा रहा है। इसका एकमात्र उपाय राष्ट्रीय शिक्षण की आग मुलगाना ही है।

अग्नि की दो शक्तियाँ

पर वह 'अग्नि' होनी चाहिए। अग्नि की दो शक्तियाँ मानी गयी है। एक 'स्वाहा' और दूसरी 'स्वधा'। ये दोनो शक्तियाँ जहाँ है, वहाँ अग्नि है। 'स्वाहा' का अर्थ है—'आत्माहुति देने की, आत्मत्याग की शक्ति'। 'स्वधा' का अर्थ है—'आत्म-धारणा की शक्ति'। ये दोनो शक्तियाँ राष्ट्रीय शिक्षण मे जाग्रत होनी चाहिए। इन शक्तियो के जाग्रत होने पर ही वह राष्ट्रीय शिक्षण कहलायेगा। वाकी सब मृत-निर्जीव है, 'कोरा शिक्षण' है।

ऊपर-ऊपर से दिखाई देता है कि अब तक हमारे राष्ट्रीय शिक्षको ने वडा आत्मत्याग किया है। पर वह उतना सही नही है। फुटकर स्वार्थ-त्याग अथवा गर्भित त्याग के मानी आत्मत्याग नहीं है। उसकी अपनी कसौटी भी है। जहाँ आत्मत्याग की शक्ति होगी, वहाँ आत्मधारणा की शक्ति भी होती है। आत्मधारणा की शक्ति न हुई, तो कोई किसलिए त्याग करेगा? जो आत्मा अपने को खडा नही रख सकता, वह कूदेगा कैसे? मतलब, आत्मत्याग की शक्ति मे आत्मधारण पहले से ही शामिल है। यह आत्मधारण की शक्ति 'स्वधा' राष्ट्रीय शिक्षको ने अभी तक सिद्ध नही की है। इसलिए आत्मत्याग करने का जो आभास हुआ, वह आभासमात्र ही है। पहले स्वधा होगा, उसके वाद स्वाहा। राष्ट्रीय शिक्षण को अर्थात् राष्ट्रीय शिक्षको को अव स्वधा-सपादन की तैयारी करनी चाहिए।

जीवन का दायित्व लें

शिक्षको को 'केवल शिक्षण' की भ्रामक कल्पना छोडकर स्वतत्र जीवन की जिम्मेवारी, जैसी कि किसानो पर होती है, अपने ऊपर लेनी चाहिए और विद्यार्थियो को भी उसीमे उत्तर-दायित्वपूर्ण भाग देकर उनके चारो ओर शिक्षण की रचना करनी चाहिए, अथवा अपने आप होने देनी चाहिए। "गुरो कर्मातिशेषेण" इस वाक्य का अर्थ 'गुरु के काम पूरे करके वेदाभ्यास करना, यही ठीक है। नही तो गुरु की व्यक्तिगत सेवा, इतना ही अगर 'गुरो कर्म' करने के मानी ह, तो गुरु की ऐसी कितनी सेवा होगी ? और उसमे कितने विद्यार्थी लगेगे ? अत 'गुरो कर्म' का अर्थ है--गुरु के जीवन मे जिम्मेदारी से हिस्सा लेना। वैसा उत्तरदायित्वपूर्ण भाग लेकर उसमे जो शका वगैरह पैदा हो, उन्हे गुरु से पूछे और गुरु को भी चाहिए कि अपने जीवन की जिम्मेदारी निवाहते हुए और उसको एक अग समझकर उसका यथाशक्ति उत्तर देते जायँ। यह शिक्षण का स्वरूप है।

एकाध घंटा शिक्षण के लिए

इसीमे थोडा स्वतत्र समय प्रार्थना-स्वरूप वेदाभ्यासके लिए रखना चाहिए। प्रत्येक कर्म ईश्वर की उपासना का ही हो, पर वैसा करके भी सुवह-शाम थोडा समय उपासना के लिए देना पडता है। यही न्याय वेदाभ्यास अथवा शिक्षण पर लागू करना चाहिए। सारांश, जीवन की जिम्मेदारी के काम ही दिन के मुख्य भाग में करने चाहिए और उन सभीको शिक्षण का

ही काम समझना चाहिए। साथ ही एक-दो घटे शिक्षण के निमित्त भी देने चाहिए।

आदर्श शिक्षक के पास रहना ही शिक्षण

राष्ट्रीय जीवन कैसा होना चाहिए, इसका आदर्श अपने जीवन मे उतारना राष्ट्रीय शिक्षण का कर्तव्य है। यह कर्तव्य करते रहने से उसके जीवन मे अपने आप उसके आसपास शिक्षा की किरणे फैलेगी और उन किरणो के प्रकाश से आसपास के वातावरण का काम अपने आप हो जायगा। इस प्रकार का शिक्षक स्वत सिद्ध शिक्षण-केन्द्र है और उसके समीप रहना ही शिक्षा पाना है।

मनुष्य को पवित्र जीवन विताने का ध्यान रखना चाहिए। शिक्षण की खबरदारी रखने के लिए वह जीवन ही समर्थ है। उसके लिए 'केवल शिक्षण' की हवस रखने की जरूरत नही।

—'मधुकर' मे

साक्षर या सार्थक : ३ :

रोगी मन का लक्षण

किसी आदमी के घर मे यदि बहुत-सी शीशियाँ भरी रखी हो, तो बहुत करके वह मनुष्य रोगी होगा, ऐसा हम अनुमान करते है। पर किसीके घर मे बहुत-सी पोथियाँ पडी देखे, तो हम उसे सयाना समझेगे। क्या यह अन्याय नही है? आरोग्य का पहला

नियम यह है कि अनिवार्य हुए विना शीशी का व्यवहार न करो। वैसे ही जहाँ तक सभव हो, पोथी में आँखें न गडाना या यो कहिये, आँखो में पोथी न गडाना, यह सयानेपन का पहला नियम हैं। शीशी को हम रोगी शरीर का चिह्न मानते हैं। पोथी को भी, फिर वह चाहे सासारिक पोथी हो या पारमार्थिक, रोगी मन का चिह्न मानना चाहिए।

'सु' से 'अ' अच्छा

सदियाँ वीत गयी, जिनके सयानेपन की सुगध आज भी दुनिया में फैली हुई है, उन लोगो का ध्यान जीवन को साक्षर करने के वजाय, सार्थक करने की ओर ही था, साक्षर जीवन निरर्थक हो सकता है, इसके उदाहरण वर्तमान सुशिक्षित समाज में विना ढूंढे मिल जायेंगे। इसके विपरीत निरक्षर जीवन भी अत्यन्त सार्थक हो सकता है। इसके अनेक उदाहरण इतिहास ने देखे हैं। वहुत वार 'सु' शिक्षित और 'अ' शिक्षित के जीवन की तुलना करने पर "अक्षराणामकारोऽस्मि" गीता के इस वचन में कहे अनुसार 'सु' के वजाय 'अ' ही पसद करने लायक जान पडता है।

सच्चा ज्ञान सृष्टि में

पुस्तक मे अक्षर होते हैं। इसलिए पुस्तक की सगति से जीवन को सार्थक करने की आशा रखना व्यर्थ है। 'वातो की कढी और वातो का ही भात खाकर किसीका पेट भरा है?' यह सवाल मार्मिक है। कवि के कथनानुसार पोथी का कुआँ

डुबाता भी नही और पोथी की नैया तारती भी नही। 'अश्व' माने 'घोडा' यह कोश में लिखा है। लडको को लगता है कि 'अश्व' शब्द का अर्थ कोश में दिया है। पर यह सही नहीं है। 'अश्व' शब्द का अर्थ कोश के बाहर तबेले मे बँधा खडा है। उसका कोश मे समाना सभव नही। 'अश्व' माने 'घोडा' यह कोश का वाक्य केवल इतना ही बतलाता है कि "अश्व शब्द का वही अर्थ है, जो 'घोडा' शब्द का है।" वह है क्या, सो तबेले मे जाकर देखो। कोश मे सिर्फ पर्याय शब्द दिया रहता है। पुस्तक मे अर्थ नही रहता, अर्थ तो सृष्टि में रहता है। जब यह बात समझ में आयगी, तभी सच्चे ज्ञान की चाट लगेगी।

दो अक्षरों की सार्थकता

जिसने जप की कल्पना ढूँढ निकाली, उसका एक उद्देश्य था—साक्षरत्व को सक्षिप्त रूप देना। 'साक्षरत्व बिलकुल भूँकने ही लगा है' यह देखकर 'उसके मुँह पर जप का टुकडा फेक दिया जाय', तो बेचारे का भूँकना बद हो जायगा और जीवन सार्थक करने के प्रयत्न को अवकाश मिल जायगा, यह उसका भीतरी भाव है। वाल्मीकि ने 'शतकोटि रामायण' लिखी। उसे लूटने के लिए देव, दानव और मानव के बीच झगडा शुरु हुआ। झगडा मिटता न देखकर, शकरजी पच चुने गये। उन्होने तीनो को तैंतीस-तैंतीस करोड श्लोक बाँट दिये। एक करोड बचे। फिर तैंतीस-तैंतीस लाख बाँट दिये। एक लाख बचा। यो उत्तरोत्तर बाँटते-बाँटते अत मे एक श्लोक बच रहा। रामायण के श्लोक अनुष्टुप् छद मे हैं। अनुष्टुप् छद

में अक्षर होते है वत्तीस। शकरजी ने उनमें से दस-दस अक्षर तीनो को बाँट दिये। बाकी रहे दो अक्षर। वे कौन-से थे? 'रा-म'। शकरजी ने वे दोनो अक्षर बटवारे की मजदूरी के नाम पर खुद ले लिये। शकरजी ने अपना साक्षरत्व दो अक्षरो मे समाप्त कर दिया, तभी तो देव, दानव और मानव कोई भी उनके ज्ञान की वरावरी न कर सका। सतो ने भी साहित्य का सारा सार राम-नाम मे ला रखा है। पर 'अभाग्या नरा पामरा हे कळे ना''—इस अभागे पामर नर को यह नही सूझता।

अक्षर घोखना व्यर्थ

सतो ने रामायण को दो अक्षरो मे समाप्त किया। ऋषियो न वदो को एक ही अक्षर मे समेट रखा है। साक्षर होने की हवस नही छूटती, तो 'ॐकार' का जप करो, वस। इतने से काम न चले, तो नन्हा-सा 'माडूक्य उपनिषद्' पढो। फिर भी वासना रह जाय, तो 'दशोपनिषद्' देखो। इस आशय का एक वाक्य मुक्तिकोपनिषद् मे आया है। उससे ऋषि का इरादा साफ जाहिर होता है। पर ऋषि का यह कहना नही है कि एक अक्षर का भी जप करना ही चाहिए। एक या अनेक अक्षर रटने मे जीवन की सार्थकता नही है। वेदो के अक्षर पोथी में मिलते है, अर्थ जीवन मे खोजना होता है। तुकाराम का कहना है कि सस्कृत सीखे विना ही उन्हे वेदो का अर्थ आ गया था। इस कथन को आज तक किसीने अस्वीकार नहीं किया। शकराचार्य ने आठवे वर्ष मे वेदाभ्यास पूरा कर लिया, इस पर किसी शिष्य ने आश्चर्यचकित होकर

किसी गुरु से पूछा—'महाराज, आठ वर्ष की उम्र मे आचार्य ने वेदाभ्यास कैसे पूरा कर लिया ?" गुरु ने गभीरता से उत्तर दिया—"आचार्य की बुद्धि बचपन में उतनी तीव्र नही रही होगी, इसीसे उन्हें आठ वर्ष लगे।"

ठोकर खाने का स्वातंत्र्य

एक आदमी दवा खाते-खाते ऊब गया, क्योकि 'मर्ज बढता ही गया, ज्यो-ज्यो कि दवा की'। अत मे किसीकी सलाह से उसने खेत मे काम करना शुरू किया। उससे नीरोग होकर थोडे ही दिनो मे वह हृष्ट-पुष्ट हो गया। अनुभव से सिद्ध हुई यह आरोग्य-साधना वह लोगो को बतलाने लगा। किसीके हाथ मे शीघ्र शीशी देखता, तो बडे मनोभाव से उसे उपदेश देता, "शीशी से कुछ होने-जाने का नही, हाथ में कुदाल लो, तो चगे हो जाओगे।" लोग कहते, "तुम तो शीशियाँ पी-पीकर तृप्त हुए बैठे हो और हमे मना करते हो !" दुनिया का ऐसा ही हाल है। दूसरे के अनुभव से कुछ सीखने की मनुष्य को इच्छा नही होती। उसे स्वतन्त्र अनुभव चाहिए। स्वतन्त्र ठोकर चाहिए। मै ठीक कहता हूँ कि "पोथियो से कुछ फायदा नही है। फिजूल पोथियो मे न उलझो।" तो वह कहता है, "हाँ, तुम तो पोथियाँ पढ चुके हो और मुझे ऐसा उपदेश देते हो ?" "हाँ, मै पोथियाँ पढ चुका, पर तुम न चूको, इसलिए कहता हूँ।" वह कहता है, "मुझे अनुभव चाहिए।" 'ठीक है, लो अनुभव। ठोकर खाने का स्वातन्त्र्य तुम्हारा जन्मसिद्ध अधिकार है।" इतिहास के अनुभव से हम सबक नही लेते, इसीसे इतिहास की पुनरावृत्ति होती है। हम इतिहास की

कद्र करे, तो इतिहास से आगे बढ जायँ, इतिहास की कीमत न लगाने से उसकी कीमत नाहक बढ गयी है, पर उसकी ओर ध्यान जाय तब न !

—'मधुकर' से

जीवन और शिक्षण : ४ :

जीवन के दो टुकडे

आज की विचित्र शिक्षण-पद्धति के कारण जीवन के दो टुकडे हो जाते हैं। आयु के पहले पन्द्रह-बीस वरसो में आदमी जीने के झझट में न पडकर सिर्फ शिक्षा को प्राप्त करे और बाद को शिक्षण को बस्ते में लपेटकर मरने तक जिये !

यह रीति प्रकृति की योजना के विरुद्ध है। हाथभर लबाई का बालक साढे तीन हाथ का कैसे होता है, यह उसके अथवा औरो के ध्यान मे भी नही आता। शरीर की वृद्धि रोज होती रहती है। यह वृद्धि सावकाश क्रम-क्रम से थोडी-थोडी होती है। इसलिए उसके होने का भान तक नही होता। यह नही होता कि आज रात को सोये, तब दो फुट ऊंचाई थी और सवेरे उठकर देखा, तो ढाई फुट हो गयी। आज की शिक्षण-पद्धति का तो यह ढग है कि अमुक वर्ष के अन्तिम दिन तब मनुष्य जीवन के विषय में पूर्णरूप से गैरजिम्मेदार रहे, तो भी कोई हर्ज नही। यही नही, उसे गैर-जिम्मेदार रहना चाहिए और आगामी वर्ष का पहला दिन निकले कि सारी जिम्मेदारी उठा लेने को तैयार हो जाना चाहिए। सपूर्ण

गैरजिम्मेदारी से सम्पूर्ण जिम्मेदारी मे कूदना तो एक हनुमान-छलाँग ही हुई। ऐसी हनुमान-छलाँग की कोशिश मे हाथ-पैर टूट जायँ, तो क्या आश्चर्य !

कुरुक्षेत्र में भगवद्गीता

भगवान् ने अर्जुन से कुरुक्षेत्र मे 'भगवद्गीता' कही। पहले भगवद्गीता के 'क्लास' लेकर फिर अर्जुन को कुरुक्षेत्र मे नही ढकेला। तभी उसे वह गीता पची। हम जिसे 'जीवन की तैयारी का ज्ञान' कहते हैं उसे जीवन से बिलकुल अलिप्त रखना चाहते हैं, इसलिए उक्त ज्ञान से मौत की ही तैयारी होती है।

हनुमान-छलाँग का नतीजा

बीस बरस का उत्साही युवक अध्ययन मे मग्न है। तरह-तरह के ऊँचे विचारो के महल बना रहा है। "मै शिवाजी महाराज की तरह मातृभूमि की सेवा करूँगा। मै वाल्मीकि-सा कवि बनूंगा। मै न्यूटन की तरह खोज करूँगा।" एक, दो, चार, न जाने कितनी कल्पनाएँ करता है। ऐसी कल्पना करने का भाग्य भी थोडो को ही मिलता है। पर जिन्हे मिलता है, उनकी ही बात लेते है। इन कल्पनाओ का आगे क्या नतीजा निकलता है? जब नोन-तेल-लकडी के फेर में पडा, जब पेट का प्रश्न सामने आया, तो बेचारा दीन बन जाता है। जीवन की जिम्मेदारी 'क्या चीज है', आज तक इसकी बिलकुल ही कल्पना नही थी और अब तो पहाड सामने खडा हो गया। फिर क्या करें? फिर पेट के लिए बन-बन फिरनेवाले शिवाजी, करुण गीत गानेवाले

वाल्मीकि और कभी नौकरी की, तो कभी पत्नी की, कभी बेटी के लिए वर की और अंत में श्मशान की शोध करनेवाले न्यूटन-- इस प्रकार की भूमिकाएँ लेकर अपनी कल्पनाओं का समाधान करता है। यह हनुमान-छलाँग का फल है।

मैट्रिक के एक विद्यार्थी से पूछा "क्यों जी, तुम आगे क्या करोगे ?"

"आगे क्या ? आगे कॉलेज में जाऊँगा।"

"ठीक है। कॉलेज में तो जाओगे। लेकिन उसके बाद ? यह सवाल तो बना ही रहता है।"

"सवाल तो बना ही रहता है। पर अभी से उसका विचार क्यों किया जाय ? आगे देखा जायगा।"

फिर तीन साल बाद उसी विद्यार्थी से वही सवाल पूछा।

"अभी तक कोई विचार नहीं हुआ।"

"विचार नहीं हुआ यानी ? लेकिन विचार किया था क्या ?"

"नहीं साहब, विचार किया ही नहीं। क्या विचार करें, कुछ सूझता नहीं। पर अभी डेढ़ बरस बाकी है। आगे देखा जायगा।"

"आगे देखा जायगा" ये वे ही शब्द हैं,—जो तीन वर्ष पहले कहे गये थे। पर पहले की आवाज में बेफिक्री थी और आज की आवाज में थोड़ी चिन्ता की झलक।

फिर डेढ़ वर्ष बाद, उसी प्रश्नकर्ता ने उसी विद्यार्थी से या यों कहें, अब उसे 'गृहस्थ' से—वही प्रश्न पूछा। इस बार उसका चेहरा चिन्ताग्रस्त था। आवाज की बेफिक्री बिलकुल गायब थी। "ततः किम् ? ततः किम् ? ततः किम् ?" शंकराचार्यजी का यह

पूछा हुआ सनातन प्रश्न अब उसके दिमाग मे कसकर चक्कर लगाने लगा था। पर उसके पास उसका कोई जवाब नही था।

आज की मौत कल पर ढकेलते-ढकेलते एक दिन ऐसा आ जाता है कि उस दिन मरना ही पडता है। यह प्रसग उन पर नही आता, जो 'मरण के पहले ही' मर लेते है, जो अपना मरण आँखो से दखते है। जो मरण का 'अगाऊ' अनुभव लेते है, उनका मरण टलता है और जो मरण के अगाऊ अनुभव से जी चुराते है, खिचते है, उनकी छाती पर मरण आ पडता है। सामने खभा है, यह वात अधे को उस खभे का छाती मे प्रत्यक्ष धक्का लगने के वाद मालूम होती है। आँखवाले को यह खभा पहले ही दिखाई देता है, अत उसका धक्का उसकी छाती को नही लगता।

जिम्मेदारी न टालें

जिन्दगी की जिम्मेदारी कोई डरावनी चीज नही है। वह आनद से ओतप्रोत है, वशर्ते कि ईश्वर की रची जीवन की सरल योजना को ध्यान मे रखते हुए अयुक्त वासनाओ को दवाकर रखा जाय। पर जैसे वह आनन्द से भरी वस्तु है,वैसे ही शिक्षा से भी भरपूर है। यह पक्की वात समझनी चाहिए कि जो जिन्दगी की जिम्मेदारी से वचित हुआ, वह सारी शिक्षा गंवा वैठा। वहुतो की धारणा है कि वचपन से ही जिन्दगी की जिम्मेदारी का खयाल अगर वच्चो मे पैदा हो जाय, तो जीवन कुम्हला जायगा। पर जिन्दगी की जिम्मेदारी का भार होने से अगर जीवन कुम्हलाता हो, तो फिर वह जीवन-वस्तु ही रहने लायक नही है।

सच्चा मनुष्यत्व

पर आज यह धारणा बहुतेरे शिक्षा-शास्त्रियों की भी है और इसका मुख्य कारण है—जीवन के विषय में दुष्ट कल्पना। जीवन यानी कलह, यह मान लेना। 'इसाप-नीति' के अरसिक माने हुए, परन्तु वास्तविक मर्म को समझनेवाले मुर्गे से सीख लेकर ज्वार के दानों की अपेक्षा मोतियों को मान देना छोड़ दिया, तो जीवन के अंदर का कलह जाता रहेगा। और जीवन में सहकार दाखिल हो जायगा। 'बन्दर के हाथ में मोतियों की माला' (मर्कट भूषण अंग) यह कहावत जिन्होंने गढ़ी है, उन्होंने मनुष्य का मनुष्यत्व सिद्ध न करके, मनुष्य के पूर्वजों के संबंध में 'डार्विन' का सिद्धान्त ही सिद्ध किया है। "हनुमान के हाथ में मोतियों की माला' वाली कहावत जिन्होंने रची, वे अपने मनुष्यत्व के प्रति वफादार रहे।

जीवन यदि भयानक वस्तु हो, कलह हो, तो बच्चों को उसमें दाखिल मत करो और खुद भी मत जियो। पर अगर जीने लायक वस्तु हो, तो लड़कों को उसमें जरूर दाखिल करो। बिना उसके उन्हें शिक्षण मिलनेवाला नहीं। भगवद्गीता जैसे कुरुक्षेत्र में कही गयी, वैसे ही शिक्षा जीवन-क्षेत्र में देनी चाहिए। वह दी जा सकती है। "दी जा सकती है" —यह भाषा भी ठीक नहीं है, वहीं जीवन-क्षेत्र में वह मिल सकती है।

जीवन जीने की शिक्षा

अर्जुन के सामने प्रत्यक्ष कर्तव्य करते हुए सवाल पैदा हुआ। उसका उत्तर देने के लिए भगवद्गीता निर्मित हुई। इसीका नाम

शिक्षा है। बच्चो को खेत मे काम करने दो। वहाँ कोई सवाल पैदा हो, तो उसका उत्तर देने के लिए सृष्टि-शास्त्र अथवा पदार्थ-विज्ञान की या दूसरी जिस चीज की जरूरत हो, उसका ज्ञान दो। यह सच्चा शिक्षण होगा। बच्चो को रसोई बनाने दो। उसमे जहाँ जरूरत हो, रसायनशास्त्र सिखाओ। पर असली बात यह है कि उन्हे "जीवन जीने दो।" व्यवहार मे काम करनेवाले आदमी को भी शिक्षण मिलता ही रहता है। वैसे ही छोटे बच्चो को भी मिले। भेद इतना ही होगा कि बच्चो के आसपास जरूरत के अनुसार मार्ग-दर्शन करानेवाले मनुष्य मौजूद हो। ये आदमी भी 'सिखानेवाले' बनकर 'नियुक्त' नही होगे। वे भी "जीवन जीनेवाले हो", जैसे व्यवहार मे आदमी जीवन जीते है। अन्तर इतना है कि इन 'शिक्षक' कहलानेवालो का जीवन विचारमय होगा, उसमें के विचार मौके पर बच्चो को समझाकर बताने की योग्यता उनमें होगी।

पेशेवर शिक्षक न हों

पर 'शिक्षक' नाम के किसी स्वतत्र धधे की जरूरत नही है, न 'विद्यार्थी' नाम के मनुष्य-कोटि से बाहर के किसी प्राणी की। और "क्या करते हो" पूछने पर, "पढता हूँ" या "पढाता हूँ", ऐसे जवाब की जरूरत नही है, "खेती करता हूँ" अथवा "बुनता हूँ" ऐसे शुद्ध पेशेवर कहिये या व्यावहारिक कहिये, पर जीवन के भीतर से उत्तर आना चाहिए।

आदर्श गुरु-शिष्य

इसके लिए राम-लक्ष्मण जैसे विद्यार्थी और विश्वामित्र जैसे गुरु का उदाहरण लेना चाहिए। विश्वामित्र यज्ञ करते थे। उसकी रक्षा के लिए उन्होंने दशरथ से लडको की याचना की। उसी काम के लिए दशरथ ने लडको को भेजा। लडको में भी यह जिम्मेदारी की भावना थी कि हम यज्ञ-रक्षा के लिए जाते है। उसमें उन्हें अपूर्व शिक्षा मिली। पर यह बताना हो कि राम-लक्ष्मण ने क्या किया, तो कहना होगा कि 'यज्ञ-रक्षा की'। उन्होने "शिक्षा प्राप्त की" ऐसा नही कहा जायगा। पर शिक्षा उन्हे मिली ही, जो मिलनी ही थी।

आनुषंगिक फल-शिक्षा

शिक्षण कर्तव्य-कर्म का आनुषंगिक फल है। जो कोई कर्तव्य करता है, उसे जाने-अनजाने वह मिलता है। लडको को भी वह उसी तरह मिलना चाहिए। औरो को वह ठोकरे खा-खाकर मिलता है। छोटे लडको मे आज उतनी शक्ति नही आयी है, इसलिए उनके आसपास ऐसा वातावरण बनाना चाहिए कि वे बहुत ठोकरे न खाने पायें और धीरे-धीरे स्वावलबी बने, ऐसी अपेक्षा और योजना होनी चाहिए। शिक्षण फल है और "मा फलेषु कदाचन" यह मर्यादा फल के लिए भी लागू है।

शिक्षण-मोह से छूटें

खास शिक्षण के लिए कोई कर्म करना, यह भी सकाम हुआ—और उसमे भी "इदमद्य मया लब्धम्"—आज मैंने यह पाया,

"इद प्राप्स्ये"—कल वह पाऊँगा, आदि वासनाएँ आती ही है। इसलिए इस शिक्षण-मोह से छूटना चाहिए। इस मोह से जो छूटा, उसे सर्वोत्तम शिक्षण मिला समझना चाहिए। माँ बीमार है, उसकी सेवा करने में मुझे खूब शिक्षण मिलेगा पर इस शिक्षा के लोभ से मुझे माता की सेवा नही करनी है। वह तो मेरा पवित्र कर्तव्य है, इस भावना से मुझे माता की सेवा करनी चाहिए। अथवा माता बीमार है और उसकी सेवा करने से मेरी दूसरी चीज, जिसे मै "शिक्षण" समझता हूँ, जाती है, तो इस शिक्षण के नष्ट होने के डर से मुझे माता की सेवा नही टालनी चाहिए।

परिश्रम का स्थान

प्राथमिक महत्त्व के जीवनोपयोगी परिश्रम को शिक्षण म स्थान मिलना चाहिए, ऐसा माननेवाले कुछ शिक्षाशास्त्रियो का इस पर यह कहना है कि ये परिश्रम शिक्षण की दृष्टि से ही दाखिल किये जायँ, 'पेट भरने' की दृष्टि से नही। आज 'पेट भरने' का जो विकृत अर्थ प्रचलित है, उससे घबराकर यह कहा जाता है और उस हद तक वह ठीक है। पर मनुष्य को 'पेट' देने मे ईश्वर का कुछ उद्देश्य है। ईमानदारी से "पेट भरना" अगर मनुष्य साध ले, तो समाज के बहुतेरे दु ख और पातक नष्ट ही हो जायँ। इसीसे मनु ने "योऽर्थे शुचि स हि शुचि"—जो आर्थिक दृष्टि से पवित्र है, वही पवित्र है, ऐसे यथार्थ उद्गार प्रकट किये है। "सर्वेषामविरोधेन" कैसे जिये, इस शिक्षण मे सारा शिक्षण समा जाता है। अविरोधवृत्ति से शरीर-यात्रा करना मनुष्य का प्रथम

कर्तव्य है। यह कर्तव्य करने से ही उसकी आध्यात्मिक उन्नति होगी। इसीसे शरीर-यात्रा के लिए उपयोगी परिश्रम करने को ही शास्त्रकारों ने 'यज्ञ' नाम दिया है। "उदर-भरण नोहे, जाणिजे यज्ञ-कर्म"—यह 'उदरभरण नहीं है, इसे यज्ञ-कर्म जानो' वामन पंडित का यह वचन प्रसिद्ध है। अतः मैं शरीर-यात्रा के लिए परिश्रम करता हूँ, यह भावना उचित है। 'शरीर-यात्रा' से मतलव अपने साढ़े तीन हाथ के शरीर की यात्रा न समझकर समाज-शरीर की यात्रा, यह उदार अर्थ मन में बैठाना चाहिए। मेरी शरीर-यात्रा यानी समाज की सेवा और इसीलिए ईश्वर की पूजा, इतना समीकरण दृढ़ होना चाहिए। और इस ईश्वर-सेवा में देह खपाना मेरा कर्तव्य है और वह मुझे करना चाहिए, यह भावना हरएक में होनी चाहिए।

इसलिए यह भावना छोटे वच्चों में भी होनी चाहिए। इसके लिए उनको शक्तिभर जीवन में भाग लेने का मौका देना चाहिए और जीवन को मुख्य केंद्र वनाकर उसके आसपास आवश्यकतानुसार सारे शिक्षण की रचना करनी चाहिए।

इससे जीवन के दो खंड न होंगे। जीवन की जिम्मेदारी अचानक आ पड़ने से उत्पन्न होनेवाली अड़चन उत्पन्न न होगी। अनजाने शिक्षा मिलती रहेगी, पर शिक्षण का मोह नहीं चिपकेगा और निष्काम कर्म की ओर प्रवृत्ति होगी।

—'मधुकर' से

'पूर्णात् पूर्णम्' : ५ :

पूर्ण में से ही पूर्ण

श्रुति का वचन है—"पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।" पूर्ण से पूर्ण, यह प्राकृतिक विकास का नियम है। प्रश्न होगा कि इसका अर्थ क्या ? अगर पहले भी पूर्ण और पीछे भी पूर्ण, तो 'विकास' किसका ? अपूर्ण से पूर्ण कहा जाय, तो 'विकास' समझ मे भी आता है। पर 'पूर्णात् पूर्ण', यह भाषा ही अर्थशून्य प्रतीत होती है।

छोटे पूर्ण से बड़ा पूर्ण

अवश्य ही यह भाषा अर्थशून्य प्रतीत होती है, पर इसमे गभीर अर्थ निहित है। पूर्ण से पूर्ण यानी छोटे पूर्ण से बडा पूर्ण। नवजात शिशु भी पूर्ण है और बीस वर्ष का युवक भी पूर्ण है। पहला छोटे पूर्ण का उदाहरण है और दूसरा बडे पूर्ण का। बालक को एक आँख थी या आधा नाक था और युवक को दो आँखे या पूरा नाक हो गया, ऐसी बात नही। दोनो को ही दो आँखे और उन दोनो के बीच एक नाक होता है। दोनो ही पूर्ण है। अन्तर यही है कि एक छोटा पूर्ण है और दूसरा बडा पूर्ण।

दो इच की सुरेखा भी पूर्ण है और चार इच की सुरेखा भी पूर्ण सुरेखा होती है। पहली छोटी है, तो दूसरी बडी। दो इच व्यास का वर्तुल भी पूर्ण वर्तुल है और चार इच व्यास का वर्तुल भी पूर्ण वर्तुल है। पहला छोटा है, तो दूसरा बडा। श्याम-पट्ट पर अंकित आँवले के बराबर जो शून्य था, वह खुर्दबीन से कोहडे के बराबर दिखाई देने लगा। यानी खुर्दबीन ने क्या किया ?

कैसा 'विकास' किया ? क्या उसने अपूर्ण शून्य को पूर्ण शून्य बना दिया ? या छोटे पूर्ण शून्य को बडा पूर्ण शून्य बना दिया ? खुर्दबीन ने क्या ऐसा कुछ किया कि जो शून्य आँवले के बराबर पूज्य था, उसे कोहडे के बराबर पूज्य बना दिया ?

छोटे शून्य से बड़ा शून्य

और, सचमुच शिक्षाशास्त्र इससे अधिक कुछ भी नही कर सकता। शिक्षाशास्त्र की व्याख्या ही करनी हो, तो "आँवले बराबर शून्य से कोहडा बराबर शून्य", यह आप खुशी से करें। शिक्षा द्वारा आँवले से कोहडा बन जायगा, या समर्थ रामदास स्वामी की भाषा मे 'मूर्ख' से 'पठित मूर्ख' अथवा अधिक-से-अधिक, अधकचरे सयाने से 'दीड शाहणा' (डेवढा सयाना या मूर्ख) बनेगा। पर यह विनोद छोडकर उसका भाव ग्रहण किया जाय, तो यह ध्यान मे आ जायगा कि किस तरह 'पूर्ण से पूर्ण' नैसर्गिक विकास का नया सूत्र है।

अस्पष्ट से स्पष्ट

सुबह पाँच बजे सामने का पेड मुझे धुँधला दीख रहा है। दीखता तो है पूरा, पर है अस्पष्ट। साढे पाँच बजे थोडा स्पष्ट दीखने लगता है। उस समय भी पहले जैसा ही वह पूरा दीखता है, पर थोडा स्पष्ट है । सूर्योदय के बाद भी पूरा पेड दीखता है, पर अत्यन्त स्पष्ट। यह नही होता कि पाँच बजे चौथाई पेड दिखाई पडे, साढे पाँच बजे आधा और सूर्योदय के बाद पूरा। तीनो दफा वह दीखा तो पूरा ही, पर पहली दफा मे अस्पष्ट सम्पूर्ण, दूसरी दफा में स्पष्ट सम्पूर्ण और तीसरी दफा में अतिस्पष्ट सम्पूर्ण।

अस्पष्ट, स्पष्ट और अतिस्पष्ट, यह विकास सूर्य-प्रकाश ने किया। पर तीनो ही दफा वह विकास सम्पूर्ण का ही किया। इस तरह स्पष्ट है कि छोटे पूर्ण से बडा पूर्ण, अस्पष्ट पूर्ण से स्पष्ट पूर्ण, यह प्राकृतिक विकास है।

अपूर्ण से पूर्ण और पूर्ण से पूर्ण का अन्तर

'अपूर्ण से पूर्ण' का अर्थ क्या है और 'पूर्ण से पूर्ण' का अर्थ क्या है, यह समझने के लिए एक दृष्टान्त पर ध्यान दे। मान लीजिये, हम लोग समुद्र के किनारे खडे है। हमे इस समय समुद्र मे जहाज वगैरह कुछ भी दिखाई नही देता। थोडी देर मे एक जहाज दीखने लगता है। यानी जहाज का सिर्फ ऊपरी सिरा दीखने लगता है। थोडी देर बाद बिचला भाग दीखने लगता है और फिर पूरा जहाज ही दीखने लगता है। अब वह सम्पूर्ण तो दीखता है पर दूर होने के कारण अस्पष्ट है। इसके बाद जैसे-जैसे वह पास आने लगा, वैसे-ही-वैसे अधिक स्पष्ट दीखने लगता है। पहले क्षण में जहाज का जो दर्शन हुआ, तब से लेकर सम्पूर्ण जहाज दीखने तक के दर्शन को हम 'अपूर्ण से पूर्ण' कहेगे और बाद के दर्शन को 'पूर्ण से पूर्ण'।

भूगोल-शिक्षा का दृष्टांत

एक शिक्षक छात्रो को हिन्दुस्तान का भूगोल पढा रहा है। उसने पहले बच्चो को पूरे हिन्दुस्तान का नकशा दिखलाया। फिर उन्हें विभिन्न प्रान्त बताये, फिर सभी प्रान्तो की नदियाँ दिखलायी। इसके बाद उसमें सभी प्रान्तो के ऐतिहासिक, धार्मिक, व्याव-

सायिक महत्त्व के स्थान दिखलाये और इसी तरह सूक्ष्म-सूक्ष्म जानकारी कराता गया। यह शिक्षक छात्रो के ज्ञान को 'पूर्ण से पूर्ण' की ओर ले जा रहा है।

दूसरा प्रयोग

दूसरा एक शिक्षक इसी तरह छात्रो को हिन्दुस्तान का भूगोल पढा रहा है। पर पहले उसने छात्रो को एक जिले की सूक्ष्म-से-सूक्ष्म जानकारी करा दी, फिर दूसरे जिले की। इसी तरह करते-करते उन्हें एक प्रान्त की जानकारी करा दी। अव इन छात्रो को एक प्रान्त की सूक्ष्मतम जानकारी हासिल हो गयी। किन्तु अन्य प्रान्तो के वारे मे वे शून्य रहे। आगे चलकर शिक्षक ने इसी क्रम से अन्य प्रान्तो की भी सूक्ष्म-से-सूक्ष्म जानकारी करायी। अन्तत छात्रो को पूरे हिन्दुस्तान की जानकारी हो गयी। हिन्दुस्तान का भूगोल पढाने के वारे मे ही कहे, तो कहा जा सकता है कि यह शिक्षक विद्यार्थियो के ज्ञान को 'अपूर्ण से पूर्ण' की ओर ले जा रहा है।

पूर्ण से पूर्ण की ओर, आत्मविकास का सनतान सूत्र है। किसी भी आत्मवान् वस्तु के विकास में यही सूत्र लागू होता है।

शिल्प-कला का दृष्टांत

"क्ले मॉडलिंग" (मिट्टी की मूर्तियाँ आदि वनाने की कला) सवधी एक पुस्तक में मूर्ति को अपूर्ण से पूर्ण की ओर ले जाने की पद्धति का स्पष्ट निषेध किया गया है। उक्त पुस्तक में लेखक ने अपना अनुभव देते हुए लिखा है कि 'आरभ मे मिट्टी का चाहे

जैसा आकार बनाये, पर अन्त मे अभीष्ट आकार प्राप्त हो जाय, तो ठीक', इस भावना से कभी काम न करे। बल्कि इस ढग से निर्माण-कार्य करें कि आदि से लेकर अत तक किसी भी समय कोई उसे देखे, तो वह समझ जाय कि क्या चल रहा है। ऐसा होने पर ही मूर्ति में कला का सचार होता है। नही तो बहुत से कलाकार यह कहते पाये जाते हैं कि अभी क्या दख रहे हैं, पूरा हो, तब देखना। शुरू मे ऊटपटाँग बनाते चलें और बाद में उसे सुधारने बैठे! इस तरह की घाँधली से कला सध नही सकती। कला है, आत्मा का अमर अश। इसीलिए आत्मविकास के सूत्र "पूर्ण से पूर्ण" को लेकर ही कला का जन्म सभव है।

राष्ट्र-निर्माण बहुत ही बडी कला है। "पूर्णात् पूर्णम्" यह सूत्र पकडकर ही अगर उसकी रचना की जाय, तभी वह सध सकेगा।

—'मधुकर' से

आज की अनर्थकरी विद्या : ६ :

कॉलेज-शिक्षा पर आचार्य राय के विचार

बगाल के कॉलेजो और विश्वविद्यालय के प्रधानाध्यापको की एक परिषद् हुई थी। आचार्य प्रफुल्लचन्द्र राय उसके अध्यक्ष थे। श्री राय ने अपने भाषण में यह बात स्पष्ट कर दी कि आज 'उच्च' शिक्षा के लिए राष्ट्रीय सपत्ति का कैसा अपव्यय हो रहा है। आपने बताया कि बगाल के नौ सौ स्कूलो से करीब पन्द्रह

हजार छात्र मैट्रिक पास करते हैं, जिनमे से नौ हजार उच्च शिक्षा के लिए कॉलेजो मे जाते है। उनमें पाँच सौ एम० ए० पास करते है और इन पाँच सौ मे से भी केवल पचास ही अध्यापक बनते है। शेप चार सौ पचास कही क्लर्की आदि करके औसतन पचास रुपया मासिक कमाते है। इनके सिवा नौ हजार में से कुछ वकील, डॉक्टर, इजीनियर आदि बनते है। किन्तु इन सभी व्यवसायो मे आज भारी भीड हो गयी है और इससे लोगो को ठिकाने का काम नही मिल पाता। इसलिए आचार्य राय का मत है कि नौ हजार की जगह केवल नौ सौ छात्र ही कॉलेज मे भरती हो, यानी उतने ही लोगो से उच्च अध्यापन और उच्च व्यवसाय का काम पूरा हो जायगा। शेप आठ हजार एक सौ छात्र प्रति-वर्प कॉलेज मे जाकर करीब तीस लाख रुपयो का अपव्यय ही करते है। श्री राय ने इस हिसाब मे साधारणत यह औसत रखा है कि हर छात्र के पीछे दैनिक व्यय एक रुपया पडता है। इस तरह आचार्य राय इस निष्कर्प पर पहुँचे है कि हर साल तीन सौ साठ रुपये की पूंजी पर मैट्रिक तक शिक्षाप्राप्त छात्र अगर चाहे, तो कोई भी किफायत का उद्योग-धधा कर सकते है, बशर्ते वे श्रम की प्रतिष्ठा के कायल हो।

चालू शिक्षा से हानि

परन्तु यह बडी ही विकट समस्या बन बैठी है। आज की इस उदार शिक्षा की यह महिमा है कि जिस छात्र को मैट्रिक तक पढने को मिल जाता है, वह श्रम ही क्या, अपनी आत्मा की भी प्रतिष्ठा खो बैठता है। फिर भी ऐसे लोग है ही, जो कहते है कि

इस शिक्षा से जितना सभव हो, उतना लाभ अवश्य उठाया जाय। जहाँ गुरु-शिष्यभाव नही है, त्याग या सेवावृत्ति का नामोनिशान नही है, नैतिक वातावरण नही है, स्वधर्म का अभ्यास नही है, मातृभाषा के प्रति सम्मान नही है, श्रम की कोई कीमत नही है और स्वतत्र विचारो का कोई मूल्य नही है, वहाँ जाकर "लाभ" किस वात का उठाया जाय ? और वहाँ के अर्थनाश का रुपया-आना-पाई का हिसाव भी क्या बैठाया जाय ? कह-सुनकर जो आत्मनाश के यत्र खडे किये गये है, वहाँ अर्थनाश का हिसाव ही क्या ? फिर भी चूँकि पैसा गुलामो का ईश्वर है, इसलिए अर्थनाश का हिसाव उनकी समझ मे आ सकता है। ऐसा सोचकर आचार्य राय ने ये आँकडे पेश किये हैं। कम-से-कम उन्हे भी देखकर आँखे खुले, यही मुझे कहना है।

नये राज्य में शिक्षा भी नयी हो : ७ :

वल्लभभाई का मत

'नासिक-काग्रेस' के वाद इधर सरदार वल्लभभाई पटेल के जितने भी भाषण हुए, सवमे उन्होने प्रचलित शिक्षा-पद्धति के वारे मे तीव्र असन्तोष प्रकट किया। कितावी शिक्षा, जो इन दिनो हाईस्कूलो और कॉलेजो में प्राप्त होती है, विलकुल निकम्मी है। इतना ही नही, वल्कि हानिकारक है, यह वात उन्होने जोर देकर कही।

सरकार जाल में फँसी

कोई साधारण या असाधारण विचारक इस तरह बोलता, तो निराली बात होती। पर जिसके हाथो मे राष्ट्र और राष्ट्रीय सरकार का सूत्र हो, वही नेता जब ऐसा बोलता है, तो सहज ही कोई पूछ बैठेगा कि "अगर आपके मत से प्रचलित शिक्षा-पद्धति इतनी रद्दी है, तो आप उसे बदल क्यो नही देते ?" इसका उत्तर भी सरदार ने अपने अहमदावाद के भाषण में दे दिया। उन्होने कहा कि "हम सब लोग ऐसे जाल में फँसे है कि अब उसमे से निकलना मुश्किल हो रहा है।"

योजना बनाने तक छुट्टी दें

कितनी ही मुश्किल क्यो न हो, यह जाल शीघ्र-से-शीघ्र तोड फेंका जाय, यही उनके भाषण का स्पष्ट स्वर है। मै तो कई बार अपना स्पष्ट अभिप्राय प्रकट कर चुका हूँ कि बापू ने हम लोगो के सामने 'नयी तालीम' की जो पद्धति रखी है, वह हमे सन्तोषजनक प्रतीत न होती हो और उससे अन्य दूसरी पद्धति को खोजने मे कुछ समय लगे, तो सभी शिक्षा-विशेषज्ञ एक जगह बैठकर विचार करे और उनके निर्णय मे जितना समय लगे, उतने समय तक देश के सभी स्कूल-कॉलेजो को छुट्टी दे दी जाय। उस छुट्टी से देश की उतनी हानि न होगी, जितनी कि सदोष शिक्षा-पद्धति के जारी रखने से होगी।

पुराना झंडा नहीं

एक दिन चर्चा के प्रसग में मैने एक व्यक्ति से पूछा "जब राज्यक्रान्ति होकर पुरानी सरकार की जगह नयी सरकार

आती है, तो उस नये राज्य में क्या पुराने राज्य का झंडा चल सकता है ?" उत्तर स्पष्ट था "नहीं चल सकता।" मैंने कहा "शिक्षा के बारे में भी ठीक यही बात लागू होती है। जैसे, नये राज्य तो नया झंडा, ठीक वैसे ही नये राज्य में नयी शिक्षा।" नया राज्य आ गया और शिक्षा पुरानी ही चल रही हो, तो यही समझना चाहिए कि उस राज्य का नयापन ऊपरी है, भीतर से तो पुराने को ही दुहराया जा रहा है।

—'सेवक', जनवरी १९५१

सच्ची शिक्षा पाठशाला के बाहर : ८ :

चांडिल-सम्मेलन में जयप्रकाशजी ने विद्यार्थियों को सलाह दी कि 'एकाध साल के लिए कॉलेज वगैरह छोड़कर भू-दान-यज्ञ के काम में लग जाओ।' इस पर विद्यार्थियों ने मेरा मत पूछा। मैंने उनसे कहा "भू-दान-यज्ञ के आंदोलन में काम न करना हो, तो भी विद्यार्थी कॉलेज छोड़ सकते हैं।" यह सुनकर विद्यार्थियों को मजा आया।

कॉलेज के बाहर ज्ञान-भंडार

सैंतीस साल पहले की बात है। कॉलेज छोड़कर ज्ञान की खोज में मैं बाहर निकला। कॉलेज में और बहुत-सी बातें दिखाई दीं, लेकिन ज्ञान नहीं दिखाई दिया। पर कॉलेज छोड़ने के बाद ज्ञान के अनंत द्वार खुल गये।

मेरी ज्ञान की उपासना आज तक जारी है। ज्ञान के समान

पवित्र और कुछ नहीं है, ऐसा ही मैं मानता आया हूँ। इसलिए कॉलेज में जो कालक्षेप होता था, उसे मै सह नहीं सका। विद्यार्थियो से मेरा हमेशा ही परिचय रहा है और पाठशालाओ में क्या-क्या सिखाया जाता है, इसकी मैं हमेशा जाँच-पडताल किया करता हूं। सैंतीस साल पहले शिक्षा के नाम पर जो खाद्य हमे दिया जाता था, लगभग उसी नमूने का खाद्य आज भी दिया जाता है। उस वक्त हमारा देश पराधीन था, आज स्वाधीन हो गया है।

देश मे एक तरफ करोडो लोग जड-कर्म कर रहे है, दूसरी तरफ लाखो विद्यार्थियो को कर्मशून्य मूढ शिक्षा दी जा रही है। हुक्काम और हुक्मी—सिर्फ हुक्म करनेवाले और सिर्फ हुक्म माननेवाले—इस तरह के दो वर्ग बन गये है। दैन्य, दारिद्रय और दु ख का सुकाल हो रहा है। चालू शिक्षण-पद्धति जब तक नही बदलती, तब तक इस स्थिति मे सुधार होनेवाला नही है।

—'सेवक', जून १९५३

विद्या का विनोद : ९ :

कई बार हम लोगो का पडाव पाठशालाओ में हुआ करता है। छोटे-से गाँव मे पाठशाला ही एक अच्छी इमारत होती है। वहाँ हम लोगो को ठहरने की सुविधा हो जाती है और बच्चो को भी आनद आता है। उन्हे एक छुट्टी मिल जाती है।

छुट्टियों की खैरात

आज जिस कक्षा मे हमारा पडाव था, वहाँ पाठशाला की इस वर्ष की छुट्टियो की तालिका टँगी थी। छोटे-बडे कुल चालीस त्योहारो की ५५ छुट्टियो का हिसाब लगाया गया था। हमारे आने की छुट्टी ५६वी रही। हमारे देश मे अनेक धर्म हैं। उन-उन धर्मों के अनेक सत्पुरुष हुए है और उन-उन सत्पुरुषो के अनेक अभिमानी व्यक्ति हैं। इन सबको मिलाकर छुट्टियो की खैरात बँटती है। फलस्वरूप बच्चो के पल्ले सहज ही सर्व-धर्म-समभाव पड जाता है।

जन्म-मृत्यु

और जन्म-मृत्यु भी समान हो जाते है। मुझे याद आता है कि हम लोगो के बचपन मे बादशाह के मरने पर एक दिन की छुट्टी होती थी और उसके जन्म-दिन पर छुट्टी तो थी ही। जैसे हिन्दूधर्म मे बरही को मीठा खाना और तेरही को भी मीठा खाना। कोई जिये या मरे, मुँह सदैव मीठा हुआ करेगा।

जयन्तियाँ

ये छुट्टियाँ उत्तर प्रदेश के शिक्षा-विभाग ने दी है। मजे की बात यह ह कि उत्तर प्रदेश के सर्वजनप्रिय सन्त तुलसीदास, सूरदास और कबीरदास के नाम पर छुट्टियाँ नही दी गयी। नही तो विद्यालय में यानी 'विद्या के लय मे' और भी वृद्धि हो जाती। हाँ, नानक और गुरु गोविन्दसिंह के नाम पर छुट्टियाँ अवश्य हैं। बुद्ध, महावीर, मुहम्मद आदि के नाम पर तो छुट्टियाँ

होगी ही। जिनके नाम पर झगडे खडे हो सकते है अथवा जिनके अपने मतवालो के सब है या जो सौतियाडाह पर उतारु है, उनके नाम पर छुट्टियाँ दे दी, बस, झगडा समाप्त!

ग्रहण पर भी छुट्टी

इस साल चन्द्र-सूर्यग्रहणो की ३ छुट्टियाँ है। ग्रहण हो या न हो, चन्द्र-सूर्य की गति में रुकावट नही पडती। पर श्रद्धालु लोगो ने खोज की है कि ग्रहण मे उनकी गति थोडी देर के लिए कुण्ठित हो जाती है। उसका फायदा छात्रो तथा शिक्षको को मिल जाता है। 'भोजन के बाद दोपहर को थोडी देर अवश्य सोना चाहिए' यह बतलाते हुए एक सज्जन मुझसे कह रहे थे कि 'सूर्य भी दोपहर को थोडी देर विश्राम करता है।'

रविवार की छुट्टी

ईश्वर ने छह दिनो में सृष्टि की और थककर सातवे दिन उसने आराम किया। तभी से किसी सम्प्रदाय में शुक्रवार को, किसीमे शनिवार को और अब तो सर्वत्र रविवार को हक की छुट्टी करार दी गयी है। पर भोजन की छुट्टी कभी नहीं हुआ करती, कारण उससे थकान जो नही आती। कुछ लोग कहते है कि मै रविवार को भरपेट भोजन करता हूँ, क्योकि उस दिन खाने के बाद सोने की भरपूर सुविधा मिलती है। अन्य दिनो कचहरी जाना पडता है। इसलिए पेट में डाल लिया तो डाल लिया, नही तो नही ही डाला। रविवार को खाने के लिए ईश्वर की नजीर नही, कारण उसे केवल विश्राम की

ही गरज थी, खाने की नही। हमे दोनो की गरज है, इसलिए हम लोग ईश्वर से एक कदम आगे है।

इसमे शक नही कि छुट्टी भी आनन्दवर्द्धक वस्तु है और भोजन करना भी। इसका कारण वतलाने की जरूरत नही। पर छुट्टी लेने पर खाना कसे मिले? इसी एक भारी समस्या पर आज हमे विचार करना है। जव काम करने पर भी भरपेट खाना नही मिलता, तो काम छोडने पर वह कैसे मिल सकेगा?

गर्मी के दिनों में

त्योहारो और रविवार की छुट्टियो के सिवा गर्मी की लम्बी छुट्टियाँ इस देश के लिए अग्रेजो की देन है। 'विद्या और अविद्या, दोनो मिलकर पूर्ण साधना वनती है'—उपनिषद् की इस शिक्षा से गर्मी की छुट्टी का अच्छा मेल बैठता है। अविद्या को एक साथ तीन माह का मौका मिलता है। वच्चो को नाहक सिर पर लादी गयी विद्या को उठाकर पटक देने का अवसर मिलता है। विद्या देवी शत-प्रतिशत अक मिले बगैर किसीको पास नही कर सकती, पर विद्या और अविद्या, दोनो के मिल जाने से ३३ प्रतिशत से ही काम चल जाता है।

शिक्षकों के काम के घंटे

नागपुर विश्वविद्यालय के प्राध्यापक कहते है "सप्ताह मे २० घण्टो से अधिक पढाना हम लोगो के लिए सभव नही।" प्रान्त की सरकार उनसे कहती है "आज देश को अधिक श्रम की जरूरत है, आप लोग सप्ताह में २४ घटे देते चलिए।" इस

विवाद का कैसा अन्त हुआ, पता नही। पर दोनो पक्ष १८ घटे कबूल कर ले, तो विवाद मिट सकता है। सप्ताह के दिन छह और रोज के घण्टे तीन—छहत्तियाँ अठारह—इस तरह हिसाव ठीक बैठ सकता है। १८ का अक इतना शुभ है कि उसे व्यासजी की भी सम्मति मिल जायगी। हाँ आज के घण्टे की तरह शिक्षको का घण्टा भी पूरे साठ मिनटो का हो, यह आग्रहमात्र कोई न करे। कारण किसी एक विषय पर वच्चो के मन की एकाग्रता टिकने के वारे में अभी तक का अनुभव साठ मिनट के घण्टे के अनुकूल नही है। धार्मिको ने यह निर्णय दिया है कि नवीन विषय नये मुहूर्त पर शुरु करना चाहिए। मुहूर्त यानी दो घडी या अडतालीस मिनट। इस निर्णय के अनुसार चालीस से पचास मिनट के दरमियान कही भी घण्टा हुआ करता है।

शिक्षक और शरीर-श्रम

सप्ताह मे २० घण्टे से ज्यादा पढाना सभव नही, यह वात मै भी सहज ही मान सकता हूँ। कारण पढाने में मस्तिष्क, फुफ्फुस और गले को कितनी मेहनत करनी पडती है, इसका मुझे अनुभव है। इन दिनो मैं एक घण्टे से अधिक पढाने की मजदूरी नही कर सकता। अगर ईमानदारी से और विश्वासपूर्वक पढाया जाय, तो ऐसा ही अनुभव आयगा। फिर भी यह सुझाव मानने मे तो कोई अडचन न होनी चाहिए कि प्रतिदिन तीन घण्टे पढाया जाय और तीन घण्टे कोई भी उत्पादक-श्रम किया जाय। पर चूँकि शरीर-श्रम शिक्षक का धर्म नही माना गया, इसलिए स्वधर्मनिष्ठ शिक्षक इस वात के लिए सहसा तैयार न होगे।

मैंने यह लेख विनोद मे लिखा है, पर मै इसमे मजदूर की वेदना छिपा नही सका। इसके लिए मै विवश हूँ।

—'मेवक', जुलाई १९५२

संस्कृत शिक्षा भी अंग्रेजी में :१०:

घानी के बैल

परसो वत्सला मिलने के लिए आयी थी। आजकल वह कॉलेज मे पढ रही है। कौन-कौन विपय वह सीख रही है, इसकी चर्चा निकली, तो मालूम हुआ कि बबई प्रान्त में सब विपय अग्रेजी द्वारा ही सिखाये जाते हैं। वह कहती थी कि वही माध्यम शायद दस साल तक जारी रहेगा। मैं नही जानता कि उसका यह कहना कहाँ तक ठीक है। किन्तु अभी तक अग्रेजी माध्यम चल रहा है, यह मै जानता तो था, पर सस्कृत भी अग्रेजी म सिखायी जा रही है, यह सुनने के लिए मैं तैयार नही था। यानी अब सिर्फ मातृभाषा भी अग्रेजी के जरिये नही पटायी जाती, यह गनीमत ही है। अग्रेजी के जरिये सस्कृत सिखाना कितना विचित्र है, यह सब महसूस कर सकते है। लेकिन बरसो से यह चल रहा है। मुझे इसका पता नही था कि आज भी वैसे ही चलता है। जो लोग पढाते है, वे क्या यह नही सोच सकते कि सस्कृत का हमारी मातृभापा से कितना निकट का मबध है। उसके जरिये सस्कृत पढाने से यह काम कितना आसान और रममय हो सकता है। उसे और भी रसमय

बनाना चाहें, तो संस्कृत के जरिये भी संस्कृत सिखायी जा सकती है। लेकिन अंग्रेजी के जरिये पढ़ाना तो समझ में ही नहीं आ सकता। इसका अर्थ यही है कि परंपरा छोड़ने के लिए लोग तैयार नहीं हैं। उपमा अच्छी नहीं है, पर साफ है कि घानी के बैल की तरह परंपरा में हम लोग फँसे हैं।

संस्कृत किसलिए सीखते हैं ?

कलकत्ता में यह भी मालूम हुआ कि पाठ्यक्रम में संस्कृत का जो साहित्य रखा गया है, वह इतना शृंगारपूर्ण है कि कक्षा में उसकी चर्चा असंभव-सी है। छत्तीस साल पहले मैं बड़ौदा कॉलेज में था। तब वहाँ संस्कृत के विद्यार्थियों को ऋतुसंहार, मेघदूत आदि पढ़ाया जाता था। भगवान् की कृपा से मैंने कॉलेज में संस्कृत के स्थान पर फ्रेंच ली थी। इसलिए उन सारी वेदनाओं से मैं बच गया। लेकिन यह भी सोचना चाहिए कि हम संस्कृत किसलिए सीखते हैं। विवेकानन्द ने कहा था "अगर वेदान्त का प्रचार करना चाहते हो, तो लोगों को संस्कृत सिखा दो। तुम्हारा काम हो जायगा।" अर्थात् विवेकानन्द के खयाल से संस्कृत यानी वेदान्त। गीता, उपनिषद्, रामायण, महाभारत आदि ग्रन्थ संस्कृत का जिन्दा साहित्य है। लेकिन कॉलेजों की जड़-परंपरा को यह जिन्दा साहित्य नहीं भाता। लोकलाज के मारे बी० ए० के लिए वे कुछ रख लेते हैं।

आध्यात्मिक दृष्टि से ही

आजकल जो साहित्य संस्कृत के नाम से पढ़ाया जाता है। उतना ही साहित्य अगर संस्कृत में होता, तो मैं संस्कृत सीखता

ही नही। सस्कृत में नाटक, उपन्यास आदि भी है। लेकिन वह सस्कृत की विशेपता नही है। आधुनिक भापाओ मे ऐसा साहित्य विपुल है। उसके लिए खास सस्कृत सीखने की प्रेरणा क्यो होनी चाहिए? आध्यात्मिक दृप्टि से ही सस्कृत सीखने की प्रेरणा हो सकती है या तो फिर भापा-शास्त्री सस्कृत सीखते रहेगे। लेकिन हम आम जनता की दृप्टि से सोचते ही नही, इसलिए यह हमे सूझता नहीं है।

—'सेवक', दिसम्वर १९४९

छुट्टी का समय वदलिये : ११ :

हिंदुस्तान मे हजारो वर्षो से अध्ययन-अध्यापन चला आ रहा है, पर पाठशालाओ को लवी छुट्टी देने की योजना किसीको नही सूझी। अग्रेजी विद्या शुरु होने के साथ ही शिक्षा मे छुट्टियो का प्रवेश हुआ। पहले साधारणत सप्ताह मे एक दिन अनध्याय होता था। इसके सिवा शिप्टो का आगमन और विशेप प्रसग अपवाद माने जाते थे। पर अव तो साल भर मे जैसे-तैसे ६-७ महीने पाठशाला चलती है। चूंकि आज की पाठशालाएँ वन्दी-गृह-सी वन गयी है, इसलिए छुट्टियो की आवश्यकता स्पप्ट है। यानी उस वारे में शिकायत करने का कोई कारण ही नही।

छुट्टियाँ वरसात में हों

पर लम्वी छुट्टियाँ यदि देनी ही हो, तो कव दी जायं, इस सम्वन्ध मे पुनर्विचार होना जरुरी है। ऐसी छुट्टियाँ आजकल

गर्मी के दिनो मे देने की चाल चल पडी है। यहाँ की गर्मी साहबो के लिए असह्य थी, इसीलिए उन्होने गर्मी में यह छुट्टी रखी। उन दिनो वे ठढी जगह मे जमकर रहते थे, पर अब तो उसका कोई सवाल ही नही। साहब तो अब हिंदुस्तान छोडकर सदा के लिए इग्लैण्ड की ठढी हवा मे रहने के लिए चले गये है। इसलिए अब से गर्मी की छुट्टी बदलकर बरसात मे कर देना ठीक होगा। बरसात मे किसानो के खेतो मे गोडाई होती है, उस समय बच्चे खेतो पर काम कर सकेगे। एक साथ डेढ-दो माह की छुट्टी न देकर गोडाई का समय देखकर हर बार १५-१५ दिन की छुट्टी दी जा सकती है। गर्मी में दिन बडा होता है। उस समय खेतो मे भी काम नही रहता। उस समय छुट्टी देने का मतलब है, बच्चे या तो धूप मे इधर-उधर भटके या घर पर लम्बी ताने, इसके सिवा दूसरी कोई गति नही। इसलिए यह परिवर्तन अत्यावश्यक है। साहबो का राज्य तो चला गया और अब किसानो का राज्य आ गया है। यह बात सबको ध्यान में रखनी चाहिए।

—'सिंहावलोकन'

कौटुम्बिक पाठशाला : १२ :

विचारो का प्रत्यक्ष जीवन से नाता टूट जाने से विचार निर्जीव हो जाते है और जीवन विचार-शून्य बन जाता है। मनुष्य घर मे जीता और मदरसे में विचार सीखता है, इसलिए जीवन और विचार का मेल नही बैठता। इसका उपाय यह है कि एक

ओर से घर में मदरसे का प्रवेश होना चाहिए और दूसरी ओर से मदरसे मे घर घुसना चाहिए। समाज-शास्त्र को चाहिए कि शालीन कुटुम्ब निर्माण करे और शिक्षण-शास्त्र को चाहिए कि कौटुम्बिक पाठशाला स्थापित करे। इस लेख मे शालीन कुटुम्ब के सम्बन्ध मे विचार नही करना है, कौटुम्बिक शाला के सम्बन्ध मे थोडा दिग्दर्शन कराना है।

छात्रालय अथवा शिक्षको के घर को शिक्षा की बुनियाद मानकर उस पर शिक्षण की इमारत रचनेवाली शाला ही कौटुम्बिक शाला है। ऐसी कौटुम्बिक शाला के जीवनक्रम के सम्बन्ध में—पाठ्यक्रम को अलग रखकर—कुछ सूचनाएँ इस लेख मे करनी है। वे इस प्रकार है —

(१) ईश्वर-निष्ठा ससार मे सारवस्तु है। इसलिए नित्य के कार्यक्रम मे दोनो समय सामुदायिक उपासना या प्रार्थना होनी चाहिए। प्रार्थना का स्वरूप सत-वचनो की सहायता से ईश्वर-स्मरण होना चाहिए। उपासना मे एक भाग नित्य के किसी निश्चित पाठ को देना चाहिए। "सर्वेषामविरोधेन" यह नीति हो। एक प्रार्थना रात को सोने के पहले होनी चाहिए और दूसरी सुबह सोकर उठने पर।

(२) आहार-शुद्धि का चित्त-शुद्धि से निकट सबध है, इसलिए आहार सात्त्विक होना चाहिए। गरममसाला, मिर्च, तले पदार्थ, चीनी और दूसरे निषिद्ध पदार्थों का त्याग करना चाहिए। दूध और दूध से बने पदार्थों का मर्यादित उपयोग करना चाहिए।

(३) ब्राह्मण से या दूसरे किसी रसोइये से रसोई नही

बनवानी चाहिए। रसोई की शिक्षा भी शिक्षा का एक अग है। सार्वजनिक काम करनेवालो के लिए रसोई का ज्ञान जरूरी है। सिपाही, प्रवासी, ब्रह्मचारी, सबको वह आनी चाहिए। स्वावलम्बन का वह एक अग है।

(४) कौटुम्बिक पाठशाला को अपने पाखाने का काम भी अपने हाथ मे लेना चाहिए। अस्पृश्यता-निवारण का अर्थ किसी भी मनुष्य से छुआछूत न मानना ही नही है, किसी भी समाजोपयोगी काम से नफरत न करना भी है। पाखाना साफ करना अन्त्यज का काम है, यह भावना चली जानी चाहिए। इसके अलावा स्वच्छता की सच्ची तालीम भी इसमे है। इसमे सार्वजनिक स्वच्छता रखने के ढग का अभ्यास है।

(५) अस्पृश्यो सहित सबको मदरसे मे स्थान मिलना चाहिए। यह तो है ही, पर 'कौटुबिक' पाठशाला मे भोजन मे पक्तिभेद रखना भी सभव नही। आहार-शुद्धि का नियम रखना काफी है।

(६) स्नानादि प्रात कर्म सवेरे ही कर डालने का नियम होना चाहिए। स्वास्थ्य-भेद से अपवाद रखा जा सकता है। स्नान ठढे पानी से करना चाहिए।

(७) प्रात कर्मो की तरह सोने से पहले के 'सायकर्म' भी जरूर होना चाहिए। सोने के पहले देह-शुद्धि आवश्यक है। इस सायकर्म का गाढ निद्रा और ब्रह्मचर्य से सबध है। खुली हवा मे अलग-अलग सोने का नियम होना चाहिए।

(८) किताबी शिक्षा के बजाय उद्योग पर ज्यादा जोर देना चाहिए। कम-से-कम तीन घटे तो उद्योग मे देने ही चाहिए।

इसके बिना अध्ययन तेजस्वी नहीं हो सकता। "कर्मातिशेषेण" अर्थात् काम करके बचे हुए समय मे वेदाध्ययन करना श्रुति का विधान है।

(९) शरीर के तीन घटे उद्योग में लगाने और गृहकृत्य और स्वकृत्य स्वत करने का नियम रखने के बाद दोनो समय व्यायाम करने की जरूरत नही है। फिर भी एक समय अपनी-अपनी जरूरत के मुताबिक खुली हवा मे खेलना, घूमना या कोई विशेष व्यायाम करना उचित है।

(१०) कातने को राष्ट्रीय धर्म तथा प्रार्थना की भाँति नित्यकर्म मे गिनना चाहिए। उसके लिए उद्योग के समय के अलावा कम-से-कम आधा घटा समय देना चाहिए। इस आधे घटे में तकली का उपयोग करने से भी काम चल जायगा। कातने का नित्यकर्म यात्रा में या कही भी छोडे बिना जारी रखना हो, तो तकली ही उपयुक्त साधन है। इसलिए तकली पर कातना तो आना ही चाहिए।

(११) कपडे मे खादी ही वरतनी चाहिए। दूसरी चीजे भी जहाँ तक सभव हो, स्वदेशी ही लेनी चाहिए।

(१२) सेवा के सिवा दूसरे किसी भी काम के लिए रात को जागना नहीं चाहिए। बीमार आदमी की सेवा इसमें अपवाद है, पर मौज के लिए या ज्ञान-प्राप्ति के लिए भी रात्रि-जागरण निषिद्ध है। नीद के लिए ढाई पहर रखने चाहिए।

(१३) रात को भोजन नही करना चाहिए। आरोग्य, व्यवस्था और अहिंसा, तीनो दृष्टियो से इस नियम की आवश्यकता है।

(१४) प्रचलित विषयो मे सपूर्ण जाग्रति रखकर वातावरण को निश्चल रखना चाहिए।

प्रत्यक्ष अनुभव के आधार पर कौटुम्बिक शाला के जीवन-क्रम के सम्बन्ध मे ये चौदह सूचनाएँ दी गयी है। इनमे किताबी शिक्षा और औद्योगिक शिक्षा के पाठ्यक्रम के बारे में ब्योरा नही दिया गया है। इस बारे मे लिखना होगा, तो स्वतन्त्र रूप से लिखना पडेगा।

—'मधुकर' से

पद्धति-पंचक : १३ :

घडा और मिट्टी एक है या दो ? आप अगर 'दो' कहेंगे, तो हमारी मिट्टी हमें दे दीजिये और अपना घडा ले जाइये। घडा और मिट्टी 'एक' है, ऐसा अगर आप कहेंगे, तो वह मिट्टी का ढेर पडा है, भरिये पानी। मिट्टी और घडे के इस सम्बन्ध को 'समवाय' कहते है। वर्धा शिक्षण-पद्धति को मैंने 'समवाय-पद्धति' नाम दिया है, क्योंकि इस पद्धति में उद्योग और शिक्षण का इस तरह का 'समवाय' गृहीत है।

बच्चो के सारे शिक्षण की रचना किसी एक मूल-उद्योग पर खडी की जाय। उद्योग मे शिक्षण को गरमाहट मिले और शिक्षण से उद्योग पर प्रकाश डाला जाय। इसका नाम है 'समवाय-पद्धति।

औद्योगिक शिक्षा एक अलग चीज है। उसमे सिर्फ उद्योग सिखाया जाता है। वह मिट्टी का ढेर है। किताबी पढाई

अलग चीज है, उसमे सिर्फ ज्ञान दिया जाता है। वह घडे का चित्र है। देख लीजिये, लेकिन पानी भरने के काम का वह नही।

केवल-पद्धति

प्रचलित शिक्षा-पद्धतियो मे मानव के विविध अगो में से केवल एक अग—बुद्धि की ओर ध्यान दिया गया है। वह भी उसके विकास के बदले विलास करनेवाला है। चूंकि इस पद्धति में केवल बुद्धिविलास की ओर या उसके प्रोत्साहको की भाषा में केवल शिक्षा की ओर ध्यान दिया गया, इसलिए मै उसे "केवल-पद्धति" कहता हूँ। इस पद्धति के अन्य अनेक दोष छोड दिये जायें, तो भी शिक्षाशास्त्र की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण दोष यह है कि उसमें बाह्य आधार के बिना ज्ञान दिया जाता है, जिससे वह ठूंस-ठूंस-कर भरना पडता है। फलस्वरूप वह ठीक से याद नही रहता, जीवन के साथ समरस नही हो पाता। इसके सिवा ऐसी शिक्षा से बेकारी भी बढती है।

परिशेष-पद्धति

दूसरी पद्धति है—"परिशेष-पद्धति।" जिस तरह किसी ग्रन्थ का परिशिष्ट होता है, उसी तरह शिक्षा के परिशिष्ट-रूप मे इसमे उद्योग को स्थान दिया जाता है। इस पद्धति मे उद्योग के शामिल होने पर भी उसका महत्त्व पूंछ सरीखा ही माना जाता है। इसके सिवा उद्योग एक मनोरजन, खेल या अलकार के रूप मे अपनाया जाता है। शिक्षा का श्रम मिटाने या प्रदर्शन-भर ही उसका उपयोग किया जाता है।

समुच्चय-पद्धति

तीसरी पद्धति "समुच्चय-पद्धति" है। इस पद्धति में उद्योग और शिक्षा, दोनो को समान महत्त्व देने का प्रयत्न किया जाता है। यानी ज्ञान के लिए जितना समय दिया जाता है, उद्योग के लिए भी उतना ही। मिट्टी पानी का अर्थ घडा नही है। दोनो को मिलाकर कुम्हार जब उसमे अपनी कला उँडेलता है, तब घडा तैयार होता है। समुच्चय-पद्धति में शिक्षा पानेवाले को सन्तोष नही होता। उसे ऐसा लगता है कि मेरा शिक्षा का समय व्यर्थ ही उद्योग में बीता जा रहा है। वह कभी लाचार होकर उद्योग करता है। कभी स्वार्थवशात् और कभी शिक्षा कहकर। चूंकि इस पद्धति मे उद्योग शिक्षा के अग के रूप मे समाविष्ट नही किया जाता, इसलिए उसके प्रति उपजीविका के साधनमात्र की दृष्टि रहती है। इस दृष्टि से उसकी प्रतिष्ठा शिक्षा की अपेक्षा कम ही है। इसलिए उद्योग करते हुए भी उसे उसमें उतनी रुचि नही मालूम पडती। इसके सिवा शिक्षा और उद्योग, इन दोनो का परस्पर मेल नही बैठता। शिक्षा में चल रहा होगा 'शाकुतल' या अफ्रीका का भूगोल और उद्योग मे उसे आवश्यक होगी बढई-गिरी की, लकडी के भूगोल की जानकारी। इस कारण दोनो के विषय एक-दूसरे के पूरक नही हो पाते।

संयोजन-पद्धति

उपर्युक्त तीनो पद्धतियो से भिन्न 'सयोजन' नाम की एक पद्धति शिक्षण-शास्त्री जानते है। 'कर्म द्वारा ज्ञान' यह समवाय-पद्धति का सूत्र इसमें मान लिया है, लेकिन इस पद्धति मे कर्म को

गौण स्थान दिया है। कुछ ज्ञान देना है, तो उसके अनुकूल एक सयोजन लेकर पढाया जाता है। लेकिन वह कृत्रिम-सा होता है।

समवाय-पद्धति

समवाय-पद्धति मे किसी एक जीवनव्यापी और विविध अगयुक्त मूल-उद्योग शिक्षण के माध्यम के तौर पर लिया जाता है। यह उद्योग शिक्षण का सिर्फ एक साधन नही, बल्कि उसका अविभाज्य अग रहता है। उस उद्योग के द्वारा इन तीनो उद्देश्यो की पूर्ति की जाती है (१) बच्चे की सब तरह की शक्तियो का विकास करना, (२) बच्चे को जीवनोपयोगी विविध ज्ञान देना और (३) बच्चे को आजीविका का एक समर्थ साधन मुहैया करना। इस उद्देश्य की पूर्ति का एक छोटा-सा लकिन महत्त्व का सबूत यह है कि बच्चो के काम में से पाठशाला के शिक्षण के खर्च का कुछ अश निकले, ऐसी अपेक्षा की जाती है।

इस तरह समवाय-पद्धति प्रचलित सारी शिक्षण-पद्धतियो से भिन्न और अब तक के अनुभवो की निष्कर्षरूप अतिम परिणति है।

इस पद्धति में जो मूलोद्योग चुना जाय, वह व्यापक और विविध अगयुक्त होना चाहिए, यह बात ऊपर कही ही गयी है। हिंदुस्तान की आज की हालत देखते हुए ८० प्रतिशत पाठशालाओ मे ऐसा जो मूलोद्योग शुरू किया जा सकता है, वह मेरी राय में कातने का ही हो सकता है। ७ साल की उम्र के बच्चो को ध्यान में रखकर मै यह कह रहा हूँ।

—'मूल उद्योग कातना' में कुछ परिवर्तन करके

मूलोद्योग के चुनाव में विवेक : १४ :

हमारी संस्कृति की खासियत

आज यह सवाल पूछा गया है कि बुनियादी शालाओं में "पोल्ट्री (मुर्गी-पालन) और फिशरी (मत्स्य-उत्पादन) उद्योगों को मूल उद्योग के रूप में लिया जा सकता है क्या?" अब यह एक ऐसा विषय है कि जो हिंदुस्तान में ही उठता है, दुनिया के और किसी देश में नहीं उठता। यह हिंदुस्तान की बदकिस्मती नहीं, बल्कि इसमें हमारी संस्कृति का इतिहास सूचित है।

अहिंसा का विचार रखनेवाले लोग दो तरह की दृष्टियाँ इस विषय में रख सकते हैं। दोनों अहिंसक हो सकते हैं और दोनों अपने निर्णय अलग-अलग दे सकते हैं। एक मिसाल देता हूँ। काकासाहब की अहिंसा पर उतनी ही श्रद्धा है, जितनी मेरी, और मांसाहार को मैं जितना निषिद्ध मानता हूँ, उतना ही वे भी मानते हैं। उन्होंने 'फिशरी' के विषय में एक लेख लिखा है। उसमें यह कहा गया है कि "फिशरी एक ऐसा धंधा है, जिसमें शिक्षणविषयक आवश्यकताएँ बहुत-सी हैं और 'बेसिक क्राफ्ट' के तौर पर उसे अच्छी तरह चलाया जा सकता है" मैं मानता हूँ कि 'बेसिक क्राफ्ट' के लिए जिन कुशलताओं की आवश्यकता है, वे सभी उस धंधे में मिलती होंगी और उसके इर्द-गिर्द कई तरह के ज्ञान हम दे सकते हैं, जैसे दूसरे धंधों में भी दे सकते हैं। कुछ लोग कहेंगे कि आज यह धंधा क्रूर पद्धति से चलाया जाता है। यदि यह अधिक शास्त्रीय रीति से चलाया जाय, तो प्राणियों को

कम-से-कम तकलीफ होगी। अगर यह धधा बच्चो को सिखाया जाता है, तो इसमें क्या दोष है ?

क्या मछली मारना मूलोद्योग है ?

मै जब इस धधे के बारे में सोचता हूँ, तो इस उद्योग द्वारा बच्चो को विद्या देने की तैयारी अपने मे नही पाता। क्योकि तब मुझे बच्चो को यह सिखाना होगा कि उसके लिए इस तरह से एक हुक बनाओ। फिर यह भी बताना होगा कि उसमें किस तरह से माँस लगाओ। आमिष इसलिए कि वह मछली उसे खाने के लिए आकृष्ट होकर आये अर्थात यह उसे ठगने की बात है। उसे तो यह बताना है कि हम तुम्हे कुछ खिला रहे हैं। वह बेचारी खाने के लिए हुक पकडती है और हम फौरन उसे पकडकर अपने कब्जे मे ले लेते है। इसमे सब तरह से असत्य भी आया और हिंसा भी। तब मेरे लिए यह बहुत कठिन काम हो जायगा और बच्चो को इस तरह से तालीम देना मुझसे नही बनेगा। मै बच्चो को किस तरह समझाऊँगा कि इस तरह फुसलाना और ठगना भी मानवीय-सत्य में आता है। याने फिर मानवीय-सत्य और अन्य सत्य, इस तरह का एक भेद हमें करना पडेगा। हिंसा को तो खैर एक दफा मै कबूल भी कर लूं, पर असत्य कबूल करना मेरे मन के लिए असह्य है। अब कोई ऐसी राह बता सकता है कि जिससे उन मछलियो को ठगने की भी जरूरत न पडे और ज्यादा तकलीफ भी न हो और वे हमारे हाथ मे आ जायँ। फिर भी बच्चो के शिक्षण में ऐसी चीज रखना मै उचित नही मानूंगा। इन प्राणियो में भावनाओ का स्पष्ट ज्ञान मुझे दिखाई पडता है।

में खाने के लिए कुछ चीज देता हूँ, तो मछली फौरन प्रेम से खाने के लिए मेरे पास दौड आती है। डराता हूँ, तो भाग जाती है। मतलब यह कि वह मेरे प्रेम को समझती है और क्रोध को भी। तो इस तरह की भावना जहाँ मै स्पष्ट देखता हूँ, वहाँ उनकी हत्या करने की बात मैं किस तरह बच्चो को समझा सकूँगा, यह मेरी समझ मे नही आता।

यह तो हुई मछली मारने की बात। मुर्गी पालने के उद्योग के बारे मे मेरा वैसा विरोध नही है। उसमे और भी दूसरी बाते हैं। उस बारे मे मै यहाँ ज्यादा नही बताऊँगा। जो चीज मुझे 'फिशरी' के लिए लगती है, वह 'पोल्ट्री' के लिए नही लग रही है। वह उसमे भिन्न है। यही मुझे कहना है।

अहिंसाधिष्ठित मूलोद्योग

किन्हीने मुझे पूछा कि "समवाय क्या चीज है?" मैंने कहा "समवाय का अर्थ तो होता है, ज्ञान और कर्म का सम्मिलन।" तो उन्होने कहा कि "यही अगर है, तो हम अणु-बम के कारखाने में विद्यार्थियो को लगा सकते है। तो कर्म भी हुआ और उसके जरिये उन्हे ज्ञान भी दिया जायगा, ज्ञान और कर्म का भेद मिटा दिया जायगा, तो 'समवाय-पद्धति' होगी। क्या आप इसे कबूल करेगे?" मैंने कहा "कबूल नही करूँगा। समवाय मे ज्ञान और कर्म का अभेद आता है, लेकिन वह तो आपका अणु-बम का कारखाना है, उसमें मै लडके को नही लगाऊँगा, क्योकि उसमे हमारा सर्वोदय का सिद्धान्त बाधित होता है। ऐसा उद्योग नयी तालीम मे नही चलेगा।" तो उन्होने कहा कि "तो तुम

समवाय का अर्थ यह करो कि जहाँ ज्ञान और कर्म का भेद मिट जाता है और जहाँ साध्य और साधन शुद्ध होता है।" यह सुनकर मुझे बहुत खुशी हुई और वह बात मैंने स्वीकार कर ली। हमारे समवाय में हमारे साधन और साध्य, दोनो की शुद्धि का विवेक रहना चाहिए।

कुछ लोग पूछते है कि "तुम जो छोटे-छोटे औजार हाथ मे लेते हो, वैसे औजारो से पैदावार क्या होगी ?" मै उनसे कहता हू कि "हिंदुस्तान की हालत क्या है, यह तो देखो। हमारे यहाँ की गरीबी देखो और फिर सवाल पूछो। हमारा यह सारा प्रयास गरीबो के लिए ही है। गाँवो में इतनी गरीबी है कि गॉव-वाले अपने लडके हमारे यहाँ पढने के लिए नही भेजते। लडके घर पर रहेगे, तो कुटुम्ब का कुछ भार हलका करेंगे, स्कूल में तो कुछ कमाई होती नही। इस हालत मे हमे ऐसी पद्धति काम में लानी चाहिए, जिससे वे अपने घर में काम भी कर सकें और स्कूल भी जा सकें।"

हमारे स्कूल द्वारा गरीबो की सेवा हो, यह दृष्टि हम अपनें सामने रखे, तो फिर पॉच घटे पढाये या छह घटे, एक दफा पढायें या दो दफा, ऐसे सभी प्रश्नो का उत्तर अपने आप मिल जायगा। जिस पद्धति से गरीबो की सेवा हो सकेगी, वही पद्धति नयी तालीम की पाठशाला में चालू होगी। ऐसी पद्धति की पाठ-शालाएँ चालू की जायँगी, तभी वे व्यापक पैमाने पर खोली जा सकेगी।

शिक्षा का त्रिसूत्री कार्यक्रम : १५ :

पडाव घमार, २८-९-'५५

(एक पत्र से)

नयी तालीम के कार्यक्रम में कौन-सा ज्ञान आता है और कौन-सा नहीं आता, इसका कोई बाकायदा विभाग नहीं है। वैसे तो सभी ज्ञान उसमें आ सकते हैं, लेकिन उसकी एक कसौटी है। दस दिन की भूख के लिए जैसे हम आज नहीं खाते, केवल आज की भूख के लिए खाते हैं, वैसे ही बालक के आज के जीवन में जिस ज्ञान की आवश्यकता उत्पन्न होती है, वह ज्ञान उसे आज दे। यह है, ज्ञानार्जन का मंत्र। अन्यथा ज्ञान का परिग्रह होता है। उसका बोझ या तो बच्चा उठाता नहीं, पटक देता है या उससे वह उठवाया जाय, तो उसकी बुद्धिशक्ति पर बेजा बोझ पड़ता है और जीवन-विकास कुंठित होता है।

नयी तालीम की दृष्टि

'नयी" तालीम हम कहते हैं, लेकिन नया उसमें कुछ नहीं है। जिनका उत्तम आत्मविकास हुआ है, उन्होंने ज्ञान और अज्ञान, दोनों का उपकार मानकर दोनों का ठीक संग्रह किया, तभी उन्हें आत्मदर्शन हुआ। यही है, नयी तालीम की दृष्टि।

शत-प्रतिशत ज्ञान

आज की शाला में तैंतीस प्रतिशत अंक मिलने पर पास करने की योजना क्यों बनायी गयी है? इसका कारण स्पष्ट

है। उस योजना के बनानेवालो को मालूम है कि हम बच्चो के सिर पर ऐसा ज्ञान लाद रहे हैं, जिसकी आज उन्हे आवश्यकता नही। ऐसी हालत मे शत-प्रतिशत की अपेक्षा कैसे की जा सकती है? लेकिन नयी तालीम में मै शत-प्रतिशत ज्ञान की अपेक्षा करूँगा।

शिक्षण के योग्य विभाग

भूगोल, इतिहास, गणित, रेखागणित, यो विषयो की गिनती ही करनी हो, तो असख्य की जा सकती है। यह गिनती किसलिए? वाणी का विकास, मन का विकास, देह का विकास, बुद्धि का विकास, इन्द्रियो का विकास, ऐसे भाग हो सकते हैं।

प्राचीनकाल में हमारे विचारक पचभूत मानते थे। आज जो मूलतत्त्वो का पता लगा है, वह उन पचभूतो को काट नही सकता। वे पचभूत दृश्य के पृथक्करण मे से निकले हुए नही है, दर्शन के पृथक्करण में से निकले है। जब हमें पाँच इन्द्रियाँ है, तब तक हमारा दर्शन पचविध रहेगा। सृष्टि में पचभूत ही कायम रहेगे। तात्पर्य यह कि हमे नाना विषयो को या नाना ग्रथो को सजाना नही है, बच्चो को सजाना है। अर्थात् उनके मन, बुद्धि आदि को सजाना है।

बच्चे खाते-पीते हैं, बीमार होते है। इसलिए खाने-पीने का शास्त्र, रोग-शास्त्र और आरोग्य-शास्त्र स्पष्ट ही उनके लिए आवश्यक है।

नयी तालीम के स्वाभाविक विषय

तुम्हारे बच्चे गोशाला में काम करते है, दूध पीते है, तो उन्हें उस विद्या को जान लेने की इच्छा और आवश्यकता, दोनो है। भाषा उन्हें उत्तम आनी ही चाहिए। व्यावहारिक गणित की आवश्यकता कोई टाल नही सकता। एक-दूसरे के साथ कैसा वर्ताव करें, इसका ज्ञान न रखनेवालो की गिनती पशु में ही होगी। इसलिए नीति-विचार, धर्म-विचार छोड नही सकते। इतिहास के नाते किशोरलालभाई की जानकारी तुम्हारे बच्चो को अवश्य रहनी चाहिए। कैसर या सीजर की जानकारी की उन्हे आवश्यकता नही है। गोपुरी का चर्मालय कैसे बना, वाळुजकरजी ने चमडा कैसे खीचा, साँप पकडने की कला भाऊ को कैसे हासिल हुई, मनोहरजी को महारोगियो की सेवा की कल्पना कैसे आयी—इन सब बातो की जानकारी होनी चाहिए। इसका अर्थ यह नही कि अन्यकाल या अन्यस्थल का ताल्लुक नयी तालीम में कही नही आयगा। वह भी आ सकता है, लेकिन उसका प्रसग और उसकी आवश्यकता खडी होगी तब।

नयी तालीम का त्रिविध ज्ञान

झूले से लेकर श्मशान तक का सभी ज्ञान नही देते रहना है। आज का आवश्यक ज्ञान दें और समय-समय पर जिस ज्ञान की आवश्यकता होगी, उसके सम्पादन करने की शक्ति हासिल कराये और अदर छिपा हुआ स्वयभू ज्ञान बाहर निकालें, ऐसा तिहरा कार्यक्रम है (१) प्रकृत ज्ञान, (२) ज्ञानशक्ति-सपादन

और (३) आत्मज्ञान, यो हम इन्हे नाम दे। यह सारी दृष्टि ही निराली है। आज की नीरस-पद्धति से उसका मेल कैसे हो ?

—'सेवक', जनवरी १९५३

तुलना असंभव : १६ :

(एक पत्र मे)

ऐसी स्थिति पैदा हो जानी चाहिए कि सोलहवे साल मे यानी मौलिक पाठ्यक्रम के अन्त में तैयार हुए अपने बच्चे की सरकारी स्कूल से तुलना करने की आवश्यकता ही प्रतीत न हो।

जहाँ यह अपना बच्चा अध्यात्म-विद्या-सम्पन्न रहेगा, वहाँ उसे (स्कूली शिक्षा-प्राप्त बच्चे को) उसकी गन्ध तक न होगी। यह एक उद्योग-धन्धे में कुशल रहेगा, तो वह सर्वथा निरुद्योगी। यह सभी व्यवहारो में दक्ष रहेगा, तो वह व्यवहारशून्य। इसके सामने पराक्रम के क्षेत्र खुले रहेगे, तो उसकी आँखो के सामने अँधेरा छाया रहेगा। यह सशोधक होगा, तो वह सशोध्य।

दिशा-दर्शन : १७ :

गोसाईगज, २६-४-५२

(एक पत्र मे)

बिलकुल छोटे बच्चो को एक ही विषय देने से काम नही चलेगा। साथ ही उन पर अनेक विषयो का बोझ लादना भी

व्यर्थ हैं। उनके लिए विषय एक ही हो, "जीवन-विकास।" उसके तीन अग हैं वाणी, शरीर और मन।

१ वाणी के लिए अच्छे भजन, कविता आदि मधुर कठ से और स्वच्छ उच्चारण से पढना तथा अर्थ का सामान्य ज्ञान। वाचन, वाक्प्रकाशन और सत्य-प्रिय, सयत वाणी का अभ्यास।

२ शरीर के लिए खुली हवा मे उद्योग, अदल-बदलकर दिनभर कुछ-न-कुछ काम। खेल, हित-मितयुक्त आहार, दिन-चर्या, ऋतुचर्या, निसर्गोपचार का ज्ञान और तदनुसार उचित आचरण।

३ मन के लिए कैसा व्यवहार-वर्ताव हो, सबके लिए उपयोगी कैसे बने, देहेंद्रिय पर अकुश कैसे रखें, हम देह से भिन्न हैं, इस वस्तु का ज्ञान। अडोस-पडोस के समाज की और सृष्टि की जरूरी जानकारी।

इस तरह थोडे मे यह शिक्षण का स्वरूप है। बच्चे और शिक्षा, दोनो का सम्मिलित जीवन होना चाहिए।

तीन मुख्य बातें

किसी एक भाषा का उत्तम ज्ञान, काम चलाने भर के लिए आवश्यक गणित का अचूक ज्ञान और किसी एक उद्योग में मग्नता, ये तीन मोटी बातें होनी चाहिए।

समवाय की चिन्ता नहीं

उद्योग-मूलक ज्ञान यानी उद्योग का ज्ञान के साथ मेल बैठाना। इसकी चिंता करते-करते लोग हैरान है। लेकिन आप

उसकी चिंता न करें। बुनाई का 'ज्ञानेश्वरी' के साथ क्या संबंध है, इस तरह की बहस में हम न पड़ें। ढेर किताबों की आवश्यकता नहीं है। लेकिन जिस ग्रंथ ने सारे समाज को पकड़ रखा है, उसका उद्योग के साथ क्या संबंध है, यह आशंका "माता का बच्चे से क्या संबंध है" के जैसी है। ज्ञान कच्चा कतई नहीं रहना चाहिए। आचरणयुक्त ज्ञान कच्चा रह ही नहीं सकता।

शिक्षक का आश्रम

शिक्षक का आश्रम यानी वानप्रस्थाश्रम। उस दिशा में जितनी तेजी से प्रगति होगी, उतना ही बच्चों का शिक्षण भी सही तौर पर बुनियादी होगा।

गुण-विकास के अंग : १८ :

१ बिना कारण न डरें। भय लगे, तो भगवान् का नाम लें। भगवान् के नाम के सामने भय टिक ही नहीं सकता।

२ अपने हाथों होनेवाली गलतियाँ रोज-की-रोज सुधारी जायँ। बीते कल की गलतियाँ आज न हों और आज की गलतियाँ आगामी कल न हों इसका ध्यान रखें।

३ विचार ठीक से समझ लें। 'समझ में आये हुए विचारों को अमल में लाये बगैर नहीं रहूँगा', इस बात का पक्का निश्चय कर लें।

४ अपनी शक्ति के अनुसार, आवश्यकता पडने पर दूसरो की मदद करते रहे। यह वात कभी न भूलें कि हमें वहुतो से ऐसी मदद मिली है।

५ हर वात में अगुआ न वने। अपने आपको रोक रखें।

६ कोई-न-कोई उत्पादक-श्रम किये वगैर भोजन न करें।

७ प्रतिदिन कुछ समय नियमित रूप से अध्ययन करे।

८ अपने शरीर से गुरुजनो की सेवा करे।

९ सीधे वैठे, सीधा वोले और सीधा विचार करें।

१० किसीसे मार-पीट न करे। किसीका जी न दुखाये।

११ सचाई का वर्ताव करे। सदा सच वोले।

१२ क्रोध कभी न आने दे। क्रोध आना दुर्वलता का लक्षण है।

१३ हर वात मे अपना फायदा न देखें। ध्यान रहे कि ससार हमारे भोग के लिए नही है। हम ससार की सेवा के लिए है।

१४ गडवड, धाँधली और उतावली न करें।

१५ दूसरे का दोष न देखे, गुण ही ग्रहण करें।

१६ दूसरो के दु ख से दु खी हो। दूसरो का दु ख दूर करने के लिए व्याकुल रहे।

१७ किसी तरह का स्वाद न लगने दें। पेटूपन न करें। थोडे मे ही तृप्ति मानें।

१८ उद्धतपन न करें। सवसे मिल-जुलकर रहें। मृदु भाषण करे।

१९ वुरा काम करने में लाज लगे। मर्यादा का उल्लघन न करे।

२० हाथ, पैर, आँख आदि अवयवो की अकारण हलचल न करें।

२१ वल के जोर से कोई दबाना चाहे, तो न दवें।

२२ कमजोर आदमी कोई गलती करे, तो उसे क्षमा कर दें।

२३ शरीर को कुछ कष्ट मिले, तो व्याकुल न हो, धैर्य रखे।

२४ स्वच्छता का ध्यान रखें।

२५ किसीसे मत्सर न करे। स्वय ऊपर चढने के लिए दूसरे को नीचे न गिरायें।

२६ मैं वडा हूं, यह न माने। इसीमें सच्चा बडप्पन है।

छोटे बच्चो की शिक्षा के लिए गीता की दैवी सम्पत्ति के लक्षणो का यह सीधा-सादा और प्राथमिक अर्थ मैंने दिया है। व्यापक अर्थ 'ज्ञानेश्वरी' मे वताया ही है।

शिक्षा और उद्योग

पाठशालाओ मे गणित, इतिहास, भूगोल आदि विषयो की जो शिक्षा दी जाती है, उसमे सुधारकर उद्योग का भी समावेश किया जाय, यही हम लोग कहते है। जीवन में गणित आदि का उपयोग है, इस वारे में कुछ सन्देह ही नही। उद्योग की आवश्यकता तो स्पष्ट ही है। फिर भी इतने से काम नही चलता। शिक्षा में मुख्य दृष्टि गुण-विकास की होनी चाहिए। उसीके लिए उद्योग तथा अन्य विषयो की योजना की जाय।

गुण-विकास

विषयों के विभाजन के आधार पर पाठशाला का समय पत्रक (टाइम-टेबल) तय करना तो भूल ही है। बिना उद्योग के गुण-विकास नहीं होता और न गुणों की परख ही होती है। इसलिए उद्योग सिखलाया जाना चाहिए। उससे बालक स्वावलम्बी होता है, यह भी एक गुण ही है। विचार ठीक से उपस्थित करते न बना, तो सही-सही सत्य-रक्षा भी नहीं होती। इसलिए भाषा की शिक्षा भी गुण-विकास के अन्तर्गत आ जाती है। पर इन सबका शिक्षा की दृष्टि से स्वतंत्र मूल्य नहीं है।

—'सेवक', अगस्त १९५३

शिक्षक का आश्रम : १६ :

(बोरगरा में कार्यकर्ताओं के समक्ष किया गया प्रवचन)

बुनियादी तालीम में उद्योगों के जरिये तालीम देनी चाहिए आदि बातें बहुत जोरों से सामने आती हैं, पर ऐसा नहीं दीखता कि इस बात पर किसीने सोचा या सोचना जरूरी समझा हो कि शिक्षक का आश्रम कौनसा हो।

शिक्षक और गृहस्थ

आज होता यह है कि मैट्रिक-परीक्षा में फेल हुआ कोई लड़का लिया जाता है। उसको बुनियादी तालीम के अनुभव दिलाते हैं और तब वह शिक्षक के तौर पर अपने जीवन का

आरभ करता है। उसके साथ-साथ वह गृहस्थ के तौर पर अपने गृह-जीवन का भी आरभ करता है। पर ये दो आरभ इतने महान् है और इतनी वडी जिम्मेवारी के है कि दोनो एकरूप है, इस वास्ते दोनो एक साथ उठाये जा सकते है या फिर दोनो पर कुछ अकुश रखना है, इस वास्ते दोनो एक साथ उठाये जा सकते है, इस पर हमे सोचना है। जो हो, परन्तु एक वहुत ही गभीर विषय हमारे सामने है।

वानप्रस्थी ही शिक्षक हो

वहुत वरसो से इस विषय पर मै सोचता हूँ, तो इसी निर्णय पर आता हूँ कि शिक्षक का आश्रम वानप्रस्थाश्रम ही है। सन्यासी शिक्षक नही हो सकता, क्योकि वह सारी दुनिया के लिए है। उसका मुक्त विहार है। खास विद्यार्थियो के लिए उसका जीवन नही हो सकता। ब्रह्मचर्याश्रमी खुद विद्यार्थी है, इस वास्ते उसे भी शिक्षक का आश्रम नही कह सकते। वचे दो ही आश्रम, गृहस्थ और वानप्रस्थ। अगर हम यह समझें कि ये दोनो आश्रम शिक्षक के लिए है, तो हमारी दृष्टि स्पष्ट नही है।

जिसे आप गृहस्थाश्रम कहते है, वह अनुभव-सपादन का आश्रम है और जव वह वानप्रस्थ होता है, तव उसे गृहस्थाश्रम में से मुक्त होना चाहिए। पर उस उम्र में वानप्रस्थ नही होना चाहिए, जिस उम्र मे शरीर, मन, वुद्धि और वाणी, ये सव जीर्ण हो गयी हो। वल्कि तभी वानप्रस्थ हो जाना चाहिए, जव समझ ले कि एक अनुभव मिल चुका है, अव उसे दूसरे को देने की योग्यता आयी है। विषय-वासना शुद्ध हो चुकी है और शरीर, मन, वुद्धि

आदि इन्द्रियाँ कार्यक्षम है। ऐसा जो वानप्रस्थ पुरुप हो, वही शिक्षक हो सकता है और वही प्रचारक भी हो सकता है।

अगर हम यह माने कि गृहस्थाश्रम के साथ-साथ कुछ तालीम भी दी जा सकती है, तो वह भी जरूर दी जा सकती है, लेकिन वह तालीम घर मे ही दी जानेवाली तालीम होगी, जो माता-पिता के जरिये अपने ही बच्चो को दी जाती है। यदि उसीका विस्तार करना है, प्रचलित समाज-व्यवस्था मे, तो बच्चे अपनी माँ के पास रहने के बजाय पाँच-पचास माताओ के बच्चे एकत्र होकर किसी एक माता के पास रखे जायँ और बाकी की माताएँ काम पर जायँ, ऐसी भी एक योजना हो सकती है। लेकिन वह तालीम समाज का रूप बदलनेवाली तालीम नही होगी, बल्कि समाज का जो रूप है, उस पर आधार रखनेवाली और उसका थोडा-सा सुधार कर सकनेवाली तालीममात्र होगी। मै उसे नयी तालीम नही कहूँगा। वह पुरानी तालीम ही है।

नयी तालीम का अर्थ

नयी तालीम का एक अर्थ मेरे मन में यह है कि वह नया समाज बनायेगी। नया समाज नित्य-निरतर बनाना ही बाकी रहेगा, यह भी समझने की जरूरत है। एक नया समाज हम बना लेगे, तो उसके बाद कोई नया समाज बनना बाकी नही रह जायगा, ऐसा नही। जो समाज हम बना चुके, वह तो पुराना हो गया और इसलिए पुन नया समाज बनाने का काम शेष रह ही जाता है। नयी तालीम का मतलब है, नित्य नये समाज की रचना करनेवाली तालीम। ऐसी तालीम ऐसे अनुभवियो के

ही हाथो में होनी चाहिए, जो अनुभव-संप्रदान-समर्थ है और जिनकी व्यक्तिगत शुद्धि हो चुकी है। वे ही क्रांति का झडा उठा सकेंगे।

वानप्रस्थ यानी अनुभवी

कोई नेपोलियन रहा, तो अपनी वीरगाथाएँ लोगो को सुनायेगा, अपने अनुभव उनके सामने रखेगा। जिस पुरुष ने युद्ध का अनुभव नही लिया, वह बच्चो को पराक्रमी क्या बनायेगा? कोई एकाध महाजन, जो सत्यनिष्ठा के साथ करोडो का व्यापार कर चुका हो, वह अगर शिक्षक बने, तो वह बच्चो को व्यापार का अनुभवयुक्त ज्ञान देगा। जिसने व्यापार ही नही किया, सिर्फ व्यापारी-कॉलेज मे जो पास होकर आया, वह बच्चो को व्यापार की तालीम क्या देगा? भिन्न-भिन्न पराक्रम के क्षेत्रो में जो काम कर चुके और अनुभव प्राप्त कर चुके, वे ही बच्चो को तालीम देने के अधिकारी होते है।

इसलिए मैंने कहा था कि तालीम का काम वानप्रस्थो के हाथो में होना चाहिए। इस वास्ते वानप्रस्थाश्रम की स्थापना करने की हिम्मत और हिकमत अगर हममें हो, तो नयी तालीम जिस तरह हम चाहते है, उस तरह होगी। नही तो मुझे कोई आशा नही।

नयी तालीम का उद्देश्य

मुख्य विचार का प्रश्न यह है कि विद्यार्थियो की विद्या किस दिशा में मुडनी चाहिए। हमें प्रचलित समाज को सुखी बनाना है या नया समाज बनाना है? प्रचलित समाज को सुखी बनाने का

ही यदि विचार है, तो वानप्रस्थाश्रम की जितनी आवश्यकता अभी मै प्रकट कर रहा हूँ, उतनी तीव्रता से वह महसूस नही होगी। परन्तु अगर हम नव-समाज-निर्माण की बात करें, तो जो पराक्रम कर चुके, अनुभव से एक योग्यता प्राप्त कर चुके, जिनकी विषय-वासना परिशुद्ध हो चुकी और व्यापक हो चुकी है, जिनके मन, बुद्धि और शरीर आदि की शक्तियाँ क्षीण नही हुई है, बल्कि अधिक तेजस्वी और समर्थ हुई है, ऐसे शिक्षको के हाथो मे ही तालीम होनी चाहिए। ऐसे शिक्षको का आश्रम वानप्रस्थाश्रम ही हो सकता है।

हर व्यक्ति शिक्षक बनें

एक दफा नयी तालीम की बात चली थी, तब राजाजी ने उसका महत्त्व बताते हुए कहा था कि "वह तो ऐसी विशेष तालीम है कि उसके वास्ते अनुभवयुक्त शिक्षको की आवश्यकता रहेगी।" पूछा गया था कि मद्रास मे यह नयी तालीम क्यो न चलायी जाय, तो उसके उत्तर मे उन्होंने कहा था कि "मैं अगर राज्य-कार्य की जिम्मेदारी से निवृत्त हो जाऊँ, तो नयी तालीम का शिक्षक बनूँगा।"

राजाजी का यह कथन ठीक है। हरएक के जीवन में शिक्षक बनने का समय आना ही चाहिए। जवाहरलाल नेहरू के जीवन में एक समय ऐसा आना चाहिए कि जब वे नयी तालीम के शिक्षक बनेंगे। डॉ० राधाकृष्णन् के जीवन में ऐसा समय आना चाहिए कि जब वे नयी तालीम के शिक्षक बनेंगे और ऐसा एक समय घनश्यामदास बिड़ला के भी जीवन में आना चाहिए कि जब वे

नयी तालीम के शिक्षक बनेंगे। आप अगर यह आयोजन करते है, तो वह नवजीवनदायी आयोजन होगा।

गुण-विकास ही शिक्षा : २० :

नयी और पुरानी शिक्षा-पद्धति

कहा जाता है कि पुरानी शिक्षा-पद्धति ज्ञान-प्रधान है और हम लोगो की नयी तालीम कर्म-प्रधान है। पर यह विश्लेषण गलत है। पुरानी शिक्षा-पद्धति को ज्ञान-प्रधान कहना भूल है और नयी शिक्षा-पद्धति को कर्म-प्रधान कहना भी भूल है। कुछ लोग ऐसा कहेगे कि पुरानी शिक्षा-पद्धति पुस्तक-प्रधान थी और नयी तालीम उद्योग-प्रधान है। पर यह व्याख्या भी पूर्ण नही है। हमारा लक्ष्य काम के लिए उपयुक्त व्यक्तियो का निर्माण करना ही नही है और न यही लक्ष्य है कि हम ज्ञान-युक्त कारीगर तैयार करे। हमे मानव का पूर्ण गुण-विकास अपेक्षित है। जो शिक्षक और विद्यार्थी इसमे भाग लेंगे, उन दोनो का ही पूर्ण विकास होना चाहिए। अगर वे "केवल ज्ञान" या "केवल कर्म-कुशलता" या दोनो ही प्राप्त करें, तो भी वह शिक्षण एकागी ही होगा। कारण कर्म-शक्ति और ज्ञान-शक्ति अनेक गुणो में से केवल दो गुण है, जव कि शिक्षा से हमे सभी गुणो का विकास अपेक्षित है।

अंतरिम विकास

कहा जाता है कि हम लोग वच्चो को सूत कातना सिखाते

है और उसके द्वारा ज्ञान देते है। पर हम लोगो का केवल इतना ही काम नही है। हमें तो इसके द्वारा यह देखना होता है कि इससे उनका आन्तरिक विकास हुआ या नही ? उनका आलस्य चला गया या नही ? उनमें उद्योगशीलता आयी या नही ? वे सव प्रकार से निर्भय वने या नही ? वे सत्यवादी, सयमी और सेवाभावी वने या नही ? ये सव वाते हमे देखनी होती हैं।

परीक्षा की गन्दी पद्धति

पुरानी शिक्षा-पद्धति का गदे-से-गदा चित्र मेरे सामने परीक्षा के समय का आ खडा होता है। जव हम लोगो की परीक्षा होती है, तो हम लोगो की देखरेख के लिए निरीक्षक रखे जाते है। वे इसलिए नियुक्त होते है कि कही विद्यार्थी चोरी से एक-दूसरे की नकल न करे। मुझे यह देखकर दु ख होता है कि अगर हम लोगो के वारे में आरभ से ही यह धारणा रखी जाती कि हम चोरी कर सकते है, तो फिर विद्यार्थी की दृष्टि से हम पहले ही फेल हो गये ! अव हम लोगो की परीक्षा लेने के लिए वचा ही क्या ?

जागरूकता आवश्यक

अगर आरभ से ही पूरी सावधानी न वरती जाय, तो गुण-विकास की ओर ध्यान न देने का, पुरानी शिक्षा-पद्धति का दोष इस नयी तालीम में भी आ सकता है। इतनी गुडियाँ कतवा लेनी है, केवल इतना ही हम न देखे। हमें तो यह देखना चाहिए कि वच्चो की आत्मशक्ति प्रकट हो रही है या नही ?

विनय से गुण-विकास

सस्कृत मे शिक्षा को 'विनय' कहते हैं। कारण विनय सभी गुणो का प्रवेश-द्वार है। उसके द्वारा अन्य गुणो का विकास होता है। जो विनीत है, नम्र है, विनयशील है, वह जहाँ कही गुण मिलेगा, ज्ञान मिलेगा, अच्छी बात दीख पडेगी, तत्काल उसे ग्रहण कर लेगा। यह गुण-ग्राहकता विनय का मुख्य लक्षण है। इसीलिए पूर्वजो ने हम लोगो का ध्यान विनय पर केन्द्रित किया था।

मेरा सत्यस्वरूप

मै देह नही, देह से अलग हूँ। मेरा सत्य-स्वरूप सुन्दर और परिशुद्ध है, वह अशुद्ध नही होता। गलतियाँ तो देह के द्वारा होती है। मेरा शरीर अस्वच्छ होता है, पर मै अस्वच्छ नही होता। देह से भिन्न आत्मा का भान ही शिक्षा है। जहाँ यह भान नही होता, वह हमारी शिक्षा-व्यवस्था नही, वह शिक्षा-सस्था भी नही।

अगर कोई बच्चा अस्वच्छ दिखाई देगा, तो मै उससे यह न कहूँगा कि तू गन्दा है। मै उससे यही कहूँगा कि "तू तो स्वच्छ है, पर तेरे शरीर पर कुछ गन्दगी लग गयी है। उसे तू साफ कर डाल।"

मन का सुधार

हमें अपने मन को घडी की तरह बना लेना चाहिए, जिसे कभी भी हाथ मे लेकर देखा जा सके और यदि उसमें कभी

कोई भूल दीख पडे, तो हमे उसे दुरुस्त करना आना चाहिए। मै वही हूँ, जो न तो कभी विगडता है और न कभी अस्वच्छ ही होता हूँ। विगडनेवाले और अस्वच्छ होनेवाले शरीर को तो मैं दुरुस्त करनेवाला और स्वच्छ करनेवाला हूँ। जव हममें यह विचार स्थिर हो जायगा, तभी हमें सच्ची शिक्षा-दृष्टि प्राप्त होगी।

—'सिंहावलोकन' मे

ज्ञान की व्याख्या : २१ :

आशादेवी ने अभी वताया कि विनोवा एक शिक्षक हैं। उनका यह कहना अनुपयुक्त नही। पर मैं एक विद्यार्थी हूँ, यह कहना अधिक उपयुक्त होगा। मेरे जेल के साथी मेरे विद्यार्थीपन के गवाह हैं। अध्ययन के लिए मुझे वाह्य प्रेरणा की आवश्यकता प्रतीत नही होती। मैंने अपने जीवन का अधिकाश समय प्रत्यक्ष काम में ही विताया है। तभी तो अपनी वुद्धि हमेशा ताजी होने का मुझे अनुभव होता है।

वुद्धि ताजी कैसे रहे ?

खुली हवा में कुछ-न-कुछ शरीरश्रम करते रहने को ही मै वुद्धि ताजी रहने का मुख्य कारण मानता हूँ। इससे तपी-तपायी भूमि वारिश के लिए जैसी तैयार रहती है, वुद्धि भी ज्ञान-ग्रहण के लिए वैसी ही सदा तैयार रहती है। शारीरिक श्रम से तपी वुद्धि ज्ञान ग्रहण करने के लिए उत्सुक रहती है और वह ज्ञान को

फलद्रूप वनाती हैं। हमें विद्यार्थियो मे ज्ञान नही भरना है, हमें उनमें ज्ञान की पिपासा उत्पन्न करनी है। ज्ञान को प्राप्त करने की शक्ति पैदा करनी है।

विद्यार्थी स्वय ही सीखता है। उपनिषद् में वर्णन आता है कि विद्यार्थी को गाये दी जाती हैं और वह उन्हे चराते-चराते ही शिक्षा प्राप्त करता है। उसे कभी कोई वैल ज्ञान देता है, कभी कोई चिडिया, तो कभी कोई पेड। ज्ञान मिलते ही उसका चेहरा सतेज हो उठता है। उसका चेहरा देखकर गुरु कहता है कि "वेटा! ऐसा लगता है कि तुझे ज्ञान मिल गया।" वह कहता है "गुरुमुख के सिवा ज्ञान कैसा?" गुरु कहता है "तुझे सच्चा ज्ञान मिल गया है। तेरी विद्या निर्दोष है। गुरु की मोहर लगी कि उसका गुरुकुल-वास समाप्त!"

चेहरे पर शिक्षा का तेज

शिक्षक और छात्र, दोनो ही एक-दूसरे के आचरण से शिक्षा पाते हैं। दोनो ही विद्यार्थी हैं। जो दिया नहीं जाता, वही शिक्षण है। जो लिया जाता है, जिसका हिसाव रखा जा सकता है या जिसे कुछ लिखा जा सकता है, वह शिक्षण नही। शिक्षा का लेखा-जोखा नही किया जा सकता। जीवन ही शिक्षा है। "कैलरी" का सच्चा हिसाव कागज पर नही, शरीर पर दीखता है। जो अनुभव मे आया, खाया, पचा और रक्त में एकरस हो गया, वही सच्चा शिक्षण है।

परीक्षा यानी जुलाब

जिस विषय की मुझे परीक्षा देनी पडी, उसका मुझे विशेष ज्ञान नहीं । पर जिस विषय की परीक्षा नहीं दी, उसका मुझे अच्छा ज्ञान है। इसलिए अपने अनुभव से मै परीक्षा को कोई मूल्य नही देता। पेट साफ करने के लिए जैसे जुलाब लेना पडता है, परीक्षाएँ भी ठीक वैसी ही होती है। परीक्षा दे दी कि सारा ज्ञान साफ! इसलिए शिक्षाशास्त्र द्वारा खडे किये गये इस ढोग में पडने की कोई जरूरत नही।

भूलने की महिमा

उपनिषद् मे ज्ञान के साथ-साथ अज्ञान की भी महिमा गायी गयी है। मनुष्य को ज्ञान भी चाहिए, अज्ञान भी। केवल ज्ञान या केवल अज्ञान अन्धकार में ले जाता है। उपयुक्त ज्ञान और उपयुक्त अज्ञान के सयोग मे ही अमृतत्त्व भरा हुआ है। वैसे देखा जाय, तो ससार में ज्ञान इतना भरा पडा है कि सबको मस्तिष्क मे ठूँसने का यत्न करने पर मानव पागल हो जायगा। इसलिए स्मरण के साथ-साथ विस्मरण की भी उतनी ही आवश्यकता है। विद्यार्थी रटी हुई चीज ज्यो-की-त्यो सुना दे, तो मुझे वह पसन्द नहीं पडता। उसे मै ग्रामोफोन कहता हूँ। वह तो यत्र हो गया। मै उसे चेतन कहनेवाला नही। वह यदि चैतन्य होता, तो कुछ छोड देता, कुछ जोड देता।

—'क्रान्तदर्शन' मे

नयी तालीम एक विचार है : २२ :

(तालीमी सघ-सम्मेलन, सेवाग्राम)

आज करीव चौदह साल हुए कि नयी तालीम का वडा विचार हमारे देश को मिला। वैसे तो वह नया नही है, क्योकि कोई भी सत्य अनुभव नया नही होता। वह तो मनातन होता है। उसके वीज भूतकाल मे पडे रहते है। लेकिन जव उसका कोई पहलू हमारे जमाने के लिए आकृष्ट होता है, तव हमे आभास होता है कि हमे एक नया विचार मिल गया। हमारे लिए वह नया होता है। उसका नयापन यह है कि उससे हम प्रेरणा पाते है। नयी तालीम के विचार ने इतने साल तपस्या की और अव वह देश के सामने एक आवाहन के रूप में खडा है। इतने साल वीत जाने के वाद नयी तालीम इतनी सिद्ध वस्तु वन गयी है कि यह कहा जायगा कि उसकी असलियत, उसकी पुष्टि और उसका अमृतत्व सशय से परे हो गया है।

हमारी नादानी का सवूत

लेकिन मै ताज्जुव में हूँ और इसका मुझे दु ख भी है कि अभी तक स्वराज्य-प्राप्ति के वाद तीन साल वीत चुके, फिर भी इस पर अमल करने का साहस हमसे वन नही पड रहा है। स्वराज्य से पहले जो तालीम लोगो को गुलाम रखने के लिए उचित समझकर जारी की गयी, वही तालीम स्वराज्य-प्राप्ति के वाद अगर वैसे ही जारी रहती है, तो इससे वढकर नादानी का और सवूत भी क्या हो सकता है? अगर

हमें अब भी यह लगता है कि यह चीज प्रयोगावस्था में है, अभी यह चीज पक रही है, खाने का मौका अभी नहीं आया है, जब चीज पूरी पकेगी तब खायेंगे—अगर यही विचार है, तो मैं कहूँगा कि तब तक क्या आप ईंटें और पत्थर खाया करेंगे? आज आपके खाने लायक है क्या? वह तो फेंक देने लायक है। उसे फौरन फेंकते और कहते कि "अभी तालीम का क्या चित्र होना चाहिए, हमें नहीं सूझ रहा है, उसके बारे में सोचने में हमे चंद महीने लगेंगे, उतने दिनों तक हम तालीम बंद कर देते हैं। हमारे सब बच्चे मजदूरी में लग जायेंगे, क्योंकि हमें पैदावार बढाने की सख्त जरूरत है", यदि ऐसा कहते तो क्या नुकसान होनेवाला था? लेकिन जैसी तीव्रता हमें अपने झंडे के लिए महसूस होती है, वैसी तीव्रता तालीम के लिए महसूस नहीं होती। इसे मैं नादानी कहता हूँ।

नयी तालीम सबके लिए है

अब इस तालीम को तो हमने नाम दिया है, बुनियादी तालीम। लेकिन बुनियादी का मतलब क्या है, यह हम समझ नहीं पाये हैं। बुनियादी का मतलब हम इतना ही समझते हैं कि बच्चों को आरंभ में देने की तालीम। पर इतना ही उसका मतलब नहीं है। उसका मतलब यह है कि देश मे शुरू से आखीर तक जो भी तालीम दी जायगी, चाहे उसे निचली तालीम कहिये, बीच की तालीम कहिये या ऊँची तालीम कहिये, वह सारी-की-सारी तालीम इस बुनियाद पर खडी करनी होगी। यह नहीं हो सकता कि देहात के लोगों के लिए एक तरह की तालीम चले

और शहरवालो के लिए दूसरी तरह की। यह नही हो सकता कि पहले चार साल यह तालीम चले तथा उसके बाद कोई और चीज चले, जिसका इसके साथ कोई ताल्लुक न हो। यह भी नही हो सकता कि प्रयोग के लिए शरणार्थियो पर इसका प्रयोग किया जाय और सारे देश के लिए दूसरी तालीम चले। उसका मतलब यह है कि जो हमारे देश की सारी शिक्षा नयी तालीम की बुनियाद पर होगी, यह बात अगर मजूर है, तभी यह तालीम 'बुनियादी तालीम' कहने लायक है। मैं तो तालीम के प्रयोग मे लगे हुए कितनो को यह कहते सुनता भी हूँ कि जब उन्हे यह पूछा जाता है कि 'शहरो के लिए आपने क्या सोचा?' तो वे कहते हैं "भाई, यह तालीम शहरो के लिए नही है।, यह तो देहात के लिए है।" मं कहता हूँ कि इससे अधिक गलत खयाल कोई हो नही सकता। यह तालीम सबके लिए है। शहर और गाँव, ऐसा फर्क इसमें नही है।

शोषण बंद कीजिये

आज जैसा शहर का वातावरण है, वैसा ही अगर हम रहने देना चाहते है, तो हिन्दुस्तान मे शाँति नही रह सकती। जिन ग्रामीणो के आधार पर शहर खडे हैं, उनकी सेवा में उन्हे लग जाना चाहिए और इसी खयाल से अपने बच्चो को तालीम देनी चाहिए। यह नही हो सकता कि देश की सेवा की तालीम गाँववाले पायें और शहरवाले बच्चे देश को लूटने की तालीम पाये। यह इस देश मे नही चल सकता। क्योकि यह देश जाग्रत हुआ है और जाग्रत देश इस तरह का भेद हरगिज सहन नही करेगा। बुनियादी तालीम का मतलब समझाने के लिए मैने इतना कह दिया।

तंत्र नहीं चाहिए

अब इसमें जो कुछ खतरे है, उनके विषय में भी मै आप लोगो को आगाह कर देना चाहता हूँ। हम लोग यही इसका कुछ प्रयोग कर रहे हैं। उसका कुछ स्वरूप उस प्रदर्शनी में आप पायेंगे। यहाँ हिन्दुस्तान भर के लोग तालीम पाने के लिए आते है। आपने अभी देखा कि सारे सूबो का दर्शन यहाँ हो गया। सब जगह के लोग यहाँ आये और यहाँ से कुछ लेकर चले जायेंगे। मै इसमें भी खतरा देख रहा हूँ। यहाँ पर जो भी आप सीखेंगे या देखेंगे, वह केवल एक दिग्दर्शन के तौर पर दिशासूचक ही होगा। एसा अगर नही मानते, तो उधर एक सरकारी तत्र और यहाँ पर तालीमी सघ का दूसरा तत्र, इन दो तत्रो के बीच हमारी यह सारी तालीम भरता हो जायगी। मै तत्रो से बहुत डरता हूँ और खास करके तालीम के मामले में तत्र ऐसी चीज है कि वह उसे खतम ही कर देती है। बुनियादी तालीम का जो भी अनुभव तालीमी सघ द्वारा मिला, वह एक नमूना आपके सामने है। उस पर आप सोचें, अपना दिमाग स्वतत्र रखे और हर जगह स्वतत्र प्रयोग करे, यह मै चाहता हूँ।

नयी तालीम का विविध दर्शन

एक भाई मेरे पास आये थे, यहाँ का काम देखने के लिए। बोले "यहाँ नयी तालीम का प्रयोग कहाँ-कहाँ चल रहा है, मै देखना चाहता हूँ।" मैने कहा "भाई, जाओ सेवाग्राम और वहाँ तालीमी-सघ में जो चल रहा है, वह देखो। फिर जाओ महिलाश्रम में। वहाँ जो चल रहा है, वह देखो। फिर जाओ

गोपुरी मे, वहाँ जो कुछ है, वह देखो। फिर जाओ मगनवाडी मे।" वे सब स्थान देखकर आये और आखिर मेरे पास पहुँचे। बोले "हमने हर जगह कुछ अलग-अलग ही चीज देखी। जो हमने सेवाग्राम में पाया, वह हमे महिलाश्रम में नही मिला, वहाँ कुछ और चीज चलती है। उधर गोपुरी मे तो दूसरी ही चीज चल रही है। वहाँ तो कारखाने-ही-कारखाने लग गये। काम-ही-काम चलता है। महिलाश्रम मे तालीम तो दी जाती ह और लडकियाँ पकाती भी है, पाखाना भी साफ करती है, कपडा भी बुनती है। हर जगह अलग-अलग स्वरूप दिखाई पडा।" मैंने उनसे कहा कि "यह सारी नयी तालीम है और ये सबके सब नयी तालीम के प्रयोग है। नयी तालीम एक "तन्त्र" नही, "विचार" है।

वहुत लोग इस वुनियादी तालीम को आजकल एक पद्धति के तौर पर देख रहे हैं। एक शिक्षण की पद्धति उसका एक टेकनिक् और एक विशिष्ट तत्र। उसे लेकर वे सोचते है कि जैसे कई शिक्षण-पद्धतियाँ पहले हो चुकी, वैसे ही यह भी एक नयी शिक्षण-पद्धति आयी है। पर ऐसा सोचना गलत है। यह एक विचार है, जैसे ब्रह्मविचार एक अत्यत व्यापक विचार प्राचीन जमाने मे हिंदुस्तान को मिला था। उस एक ब्रह्मविचार मे से अद्वैत उपासना भी निकली, द्वैत उपासना भी निकली, विशिष्ट अद्वैत उपासना भी निकली और शुद्ध अद्वैत उपासना भी निकली। इस तरह की कई उपासनाएँ एक ब्रह्मविचार मे से निर्माण हुई। वैसे ही यह एक व्यापक शिक्षण-विचार है।

अनुबन्ध की गलत धारणा

एक दफा एक भाई से चर्चा चल रही थी। मै उन्हे समझा रहा था कि पाश्चात्य शिक्षण-पद्धति मे श्लोक आदि कठ करने को कोई महत्त्व नही देते, लेकिन यह गलत चीज है। बच्चो को अच्छे चुने हुए काफी श्लोक कठ करने चाहिए। अपना दृष्टात देकर मैने बताया कि उससे मुझे कितना लाभ हुआ है और जीवन में कई मौको पर कितना आधार उससे मिला है। हमारे साहित्य मे ऊँचे अनुभव के जो विचार है, वे अगर हमारे कठ में रहते है, तो उनसे कितना लाभ होता है, इसलिए पाश्चात्य शिक्षणवेत्ताओ के इस विषय के अनुभव में और हमारे अनुभव में फर्क है। वे एक विश्लेषण-पद्धति से देखते है और दुनिया के टुकडे करके उन्हें तकसीम करते है, उन्हे शाखाओ मे बाँटते हैं। लेकिन हम लोग सारी दुनिया को समग्र रूप मे देखते है और उसका अद्वैत-स्वरूप पहचानते है। यह यहाँ की पद्धति मे और वहाँ की पद्धति में भेद रहा है। इसलिए हम लोग साहित्य के सर्वोत्तम विचारो को कठ रखते है। जो लोग इस तरह नही करते, वे बुद्धि को अधिक स्थान देते है। बुद्धि का स्थान सर्व-मान्य है। लेकिन भाव को या भावना को छोड नही सकते। हृदय भी एक चीज होती है। उसके पोषण के लिए ऐसे सद्विचारो को कठ करना अत्यन्त लाजिमी है, जरूरी है। तब फौरन उन्होने पूछा कि "ठीक है। बात तो जँच जाती है, लेकिन उद्योग के साथ इसका मेल कैसे बैठाया जायगा?" मैंने उन्हें कहा कि "इसके जवाब मे मै एक सवाल पूछूँगा। आपके बच्चे रात को सोनेवाले हैं। तो उद्योग से क्या सबध होगा उस सोने

का ? यह जरा मैं जानना चाहूँगा।" उन्होने कहा कि "उसका सबध तो यह होगा कि सोने के बाद उत्साह आयेगा और उद्योग के लिए उत्साह की आवश्यकता होती है, तो सबध जुड गया।" मैंने कहा "ठीक है, इस तरह से देखो। मनुष्य में एक आत्मा होती है। उस आत्मा की शक्ति से ही देश शक्तिमान् बनता है। सिर्फ देह मे शक्ति नही होती। आत्मा से भिन्न जो देह होती है, उसे दुनिया मे देह नही, बल्कि लाश कहते है और उसका विनियोग श्मशान मे होता है। जिस देह मे आत्मा होती है, उसी देह मे कर्तृत्व-शक्ति होती है। तो आत्मा के विकास के लिए मै कुछ उत्तम श्लोको का पाठ करना आवश्यक समझता हूँ।"

यह तो मैंने एक मिसाल इसलिए दी कि बहुत-से लोग इसका अभी तत्र बनाने जा रहे है और उस तत्र मे अगर इस चीज को जकडेंगे, तो यह चीज निर्जीव-सी बन जायगी। फिर लोगो को कुछ करना-धरना नही रहेगा और हर क्रिया का हर ज्ञान के साथ किस तरह जोड बैठ सकता है, उसीकी खोज मे बेचारे लगे रहेंगे। इसमे से हमें मुक्त होना चाहिए। नयी तालीम एक जीवन-दर्शन है। उसमे जो दृष्टि है उसे लेकर काम करना है।

नृत्य गायन की मर्यादा

कई दफा यह भी होता है कि स्कूल मे परिश्रम तो रखा जाता है, लेकिन उसके साथ-साथ कुछ मनोविनोद भी चलता है। उसका मै द्वेष नही करूँगा। उसमे नादब्रह्म की उपासना होती है। लेकिन एक बात ध्यान मे रखनी चाहिए कि हमारे देश के

लोग भूखे हैं। यह दृश्य नजर के सामने रखो कि एक भूख से तडफडा रहा है और दूसरा तडफडाकर मरा पडा है । यह याद रखकर फिर नाचना हो, तो नाचो और गाना हो, तो गाओ और वजाना हो, तो वजाओ। लोग चित्रकला सीखते हैं। मैं उनसे सिफारिश करूँगा कि ऐसा भी एक चित्र खीचे कि एक मनुष्य भूख से व्याकुल है, दूसरा भूख से मरने की तैयारी मे है और तीसरा भूखा मर चुका है। ऐसा चित्र सामने रखकर हमे काम करना चाहिए। तो हिन्दुस्तान के शिक्षण का क्या स्वरूप होगा, उसका ठीक से हमे पता लगेगा। स्कूल मे कहते हैं कि हम सास्कृतिक कार्यक्रम करते हैं । ठीक है, मैं उसकी कद्र करता हूँ। उसकी कीमत करता हूँ। मनुष्य के जीवन में उसका भी स्थान है । लेकिन उसके पीछे हम ऐसे पागल न वन जायँ कि हमारा जो मुख्य मकसद है शिक्षण का, वह गायव हो जाय और हमारी जो मुख्य समस्या है, उसे हम भूल जायँ।

शिक्षण सयमप्रधान हो

कहते हैं कि हिन्दुस्तान में लोक-सख्या वढ रही है। इसमें शक नही कि यह एक गभीर वात है और सोचने की वात है। लेकिन मैं आपसे कहूँगा कि प्रजा की सख्या वढ रही है, इस वात का मुझे उतना डर नही है, जितना कि इस वात का डर है कि निर्वीर्य प्रजा वढ रही है। प्रजा अगर वीर्यवती, कर्मयोगी, दक्ष हो, तो जो सख्या पैदा होगी, उसका भार वहन करने के लिए यह वसुधरा समर्थ है, ऐसा मेरा विश्वास है। लेकिन जो निर्वीय और निस्तेज प्रजा वढ रही है, वह क्यो ? इसलिए कि देश

में सयम का वातावरण नही है। जो भी साहित्य लिखा जा रहा है, जो सिनेमा वगैरह चल रहे हैं, वे सब हिन्दुस्तान के सारे वातावरण को पूर्णत निर्वीर्य बना रहे हैं। ऐसे वातावरण मे हमारी तालीम पर यह जिम्मा आता है कि हमारे लडके बचपन से ही सयमी बने, वीर्यवान् बनें, निग्रही बनें। "हस्तसयतो, पादसयतो, वाचासयतो" ऐसा बुद्ध भगवान् ने कहा था। हस्त-कौशल तो हम देखें, लेकिन हस्तसयम भी देखें। इन्द्रिय-कौशल के साथ इन्द्रिय-सयम की भी शक्ति होनी चाहिए। जहाँ सयम की शक्ति नही है, वहाँ जो कौशल होता है, वह मनुष्य को बरबाद करने के काम में आता है। उससे मनुष्य को लाभ नही होता। केवल शक्ति में लाभ नही है, कौशल में लाभ नहीं है। बल्कि लाभ है, शक्ति का और कौशल का कल्याणकारी उपयोग करने मे। लेकिन इस ओर हमारा ध्यान कम है। जहाँ बुनियादी तालीम का जिक्र होता है, वहाँ उद्योग के जरिये शिक्षा—बस, इतना ही मत्र जपते हैं। और इसी एक वाक्य से ही मानते हैं कि हमारी शिक्षण-पद्धति का पूरा वर्णन हो गया। पर यह गलत वर्णन है।

नयी तालीम शीलप्रधान हो

हमारी यह शिक्षा-पद्धति एक सयम-पद्धति है। अर्थात् वह सयम-प्रधान है, स्वच्छन्द-प्रधान नही है। बचपन से हमारे बच्चे अपनी इन्द्रियो को, अपने मन को और अपनी बुद्धि को सयम में रखें, यह मुख्य दृष्टि होनी चाहिए। उनकी वाणी में सत्य-निष्ठा लानी होगी। वाणी से अपेक्षित विचार प्रकट हो, याने सिर्फ

वाणी की शैली नही देखनी है, बल्कि वाणी का शील देखना है। शील और शैली में जो फर्क है, उस तरफ मै आपका ध्यान खीचना चाहता हूँ।

नयी तालीम स्त्रियों के हाथ में हो

एक बात मै और कहूँगा। यह जो वातावरण सयमयुक्त रखने की जिम्मेवारी है, वह अगर ठीक ढग से हमे सिद्ध करनी है, तो जरूरी है कि बुनियादी तालीम का काम जितना हो सकता है, स्त्रियो को सौंपा जाय और उस काम के लिए स्त्रियाँ तैयार की जायँ। परसो मृदुलाबेन साराभाई मुझसे भेट करने आयी थी। उन्होने स्त्रियो के विषय मे कुछ सवाल हमसे पूछे। मैने कहा कि "देखो, तुम जगह-जगह कस्तूरबा-केंद्र खोलती हो और गाँव की स्त्रियो की सेवा की योजना बनाती हो। मेरा सुझाव है कि कस्तूरबा का काम और हमारा यह नयी तालीम का काम, सारा एक हो जाय और हिन्दुस्तान में जितनी भी स्त्रियो की सस्थाएँ हैं, उन सबसे हम सम्बन्ध रखे और स्त्रियो की सेवा के लिए बाहर लायें। स्त्रियो के हाथ में छोटे बच्चो की शिक्षा दे दें। उपनिषदो में कहा है। "मातृवान्, पितृवान्, आचार्यवान्।"—शिक्षण पहले माता से, बाद मे पिता से और अत में आचार्य से लिया जाय—यह शिक्षण का क्रम होना चाहिए।

भारतीय विद्या : २३ :

शिक्षा से दो अपेक्षाएँ

शिक्षा मे दो बातें देखनी पडती हैं। पहली यह कि जो शिक्षा दी जाती है, वह जनता के खर्च से दी जाती है। इसलिए प्रत्यक्ष व्यवहार में उसका उपयोग होना चाहिए। वालक ऐसी शिक्षा पायें कि शिक्षित होने पर समर्थ वन दुनिया की सेवा करने के लिए आगे आ सकें और उन्होने जितना लिया है, उससे दसगुना वे दूसरो को दे सके। जैसे एक सेर वीज खेत मे रोपने पर पचीस सेर वनकर निकलता है, वैसे ही छात्रो की चित्त-भूमि मे रोपा गया विचार-बीज दस-वीसगुना वनना चाहिए।

शिक्षा से दूसरी यह भी अपेक्षा की जाती है कि उससे विद्यार्थी के समग्र विकास की सामग्री उसे मिलेगी। मन की जितनी भी शक्तियाँ है, वे सव ऋषि-मुनियो ने हमें समझा दी हैं "अनन्त हि मन, अनन्ता विश्वे देवा"—विश्वदेव अनन्त हैं और मन भी अनन्त है। जव हम उसकी एक-एक वृत्ति और शक्ति का विश्लेपण करने लगते हैं, तव हमे उसके अनेक गुणो का आभास मिलता है। आत्मा सच्चिदानन्द है। उसके सान्निध्य से मन मे अनेक गुणो की छाया प्रतिविम्वित हो उठती हैं, अनन्त गुण मन मे प्रकाशित हो उठते हैं।

हमें अनुभवी पुरुषो ने सिखलाया है कि मुख्य शिक्षा वही है, जिससे हम अपने आपको मन और शरीर से भिन्न पहचान सकें। स्वय की यह पहचान ही सर्वोपरि गुण है।

विद्या-स्नातक, व्रत-स्नातक

प्राचीनकाल में ऐसा था कि अगर कोई विद्यार्थी गुरु के पास जाकर केवल विद्यार्जन कर ले, तो वह केवल विद्या-स्नातक कहा जाता था। वह पूर्ण स्नातक नही हो सकता था। विद्या-स्नातक होने के साथ ही उसे व्रत-स्नातक भी होना पड़ता था। उसे अपने आप पर विजय प्राप्त करनी पड़ती थी। आत्म-दमन की, आत्म-नियमन की कला जो सीखता, उसे व्रत-स्नातक कहते।

इस तरह जब तपाकर खरा उतरा विद्यार्थी ससार में प्रवेश करता है, तो वीर-वृत्ति और पूर्ण आत्म-विश्वास के साथ ही प्रवेश करता है। वह ससार में किसीके सामने सिर नवाकर नही, बल्कि छाती फुलाकर चलेगा। वह इस वीर-आवेश के साथ ससार में प्रवेश करेगा कि "नमयतीव गतिर् धरित्रीम्"—मानो उसके चलने से पृथ्वी दबी जा रही है।

विद्या से ही विनय का जन्म

इसका यह अर्थ नही कि वह उद्धत बन जायगा। उसमें नम्रता तो रहेगी ही। कारण, ज्ञान पाये हुए व्यक्ति को इस बात का पता रहता है कि ज्ञान कितना अनन्त है और उसे उसमें कितना थोडा अश मिला है। इसलिए सच्चा ज्ञानी जितना विद्या-सपन्न और विनय-सम्पन्न होगा, विद्या न पानेवाला उतना कभी भी न हो सकेगा। कारण, उसे विद्या की माप मिली ही नही। जिसने विद्या के समुद्र का दर्शन कर लिया, उसके ध्यान में यह बात सहज ही आ जायगी कि विद्या का कहीं पार या अत नही है और मुझे जो ज्ञान मिला है, वह उसका एक अशमात्र है। इसी-

लिए मुझे आजीवन ज्ञान की खोज करते रहना चाहिए। वह कितना ही ज्ञान प्राप्त कर ले, फिर भी ससार मे ज्ञान बाकी बना ही रहेगा। उसे इस वास्तविकता का पूर्ण ज्ञान रहेगा। इसलिए वह सदैव नम्र बना रहेगा। इसीलिए पूर्वपुरुषो ने विद्वानो से कहा है कि वे स्वय तो विनीत रहे ही, "प्रजाना विनयाधानात्" —प्रजा को भी विनयसम्पन्न बनायें।

धैर्य भी अपेक्षित

किन्तु नम्रता के साथ ही विद्यार्थी मे दृढ निश्चय, आत्म-विश्वास, धैर्य, निर्भयता आदि सभी गुण होने चाहिए। बुद्धि के साथ धृति भी रहनी ही चाहिए। जब छात्र ससार में प्रवेश करेगा, तो विजयी वीर की तरह ही करेगा। वेद मे एक मत्र है। वेदाध्ययन की परिपूर्णता के समय छात्र कहता है "मह्य नमन्ता प्रदिशश् चतस्र"—ये चारो दिशाएँ मेरे सामने नत हो। अगर कोई इस प्रकार की विद्या प्राप्त करे, तो वह उससे सारी दुनिया की सेवा करे।

ज्ञान में उत्तरोत्तर वृद्धि

ऐसा नही होता कि आज अन्न खाया और तृप्ति दो दिन बाद हुई। तृप्ति और तुष्टि का उसी क्षण अनुभव हो जाता है। ज्ञान का भी यही हाल है। जहाँ सच्चा ज्ञान मिलता है, वहाँ चेहरा ही चमकने लगता है। विद्यार्थियो को अपार आनद होता है और उसीके फलस्वरूप उनकी ज्ञान-पिपासा बढती जाती है। उन्हें कभी यह अनुभव नही होता कि ज्ञान-प्राप्ति मे उनका समय व्यर्थ नष्ट हो रहा है।

अध्ययन की पुरातन परम्परा

जिसने एक बार अध्ययन का स्वाद चख लिया, वह उसे फिर कभी छोड नही सकता। ऋषि कहते हैं हर काम करो, पर उसके साथ ही "स्वाध्याय-प्रवचने च"—स्वाध्याय और प्रवचन भी किया करो। "ऋत च स्वाध्याय-प्रवचने च", "सत्य च स्वाध्याय-प्रवचने च"—सत्य बोलो, तो उसके साथ स्वाध्याय और प्रवचन भी करो। "तपश्च स्वाध्याय-प्रवचने च"—तप करो, तो उसके साथ स्वाध्याय और प्रवचन भी करो। जन-सेवा करो, तो उसके साथ भी स्वाध्याय और प्रवचन करो। अग्नि की सेवा करो, तो उसके साथ भी स्वाध्याय और प्रवचन करो। गृहस्थाश्रम के जितने भी काम किये जायँ, उनमें से प्रत्येक के साथ स्वाध्याय और प्रवचन भी अपेक्षित है और वह ठीक भी है। विद्याभ्यास के समय जो उस रस का स्वाद ले लेता है, उसका वह रस उत्तरोत्तर बढता ही जाता है।

हमारी विद्या की परम्परा

पर आज हम देखते है कि हमारे देश में अध्ययन का अभाव ही हो गया है। यह देश प्राचीन है और यहाँ प्राचीनकाल से निरन्तर अध्ययन चला आ रहा है। अभी कल तक यहाँ अध्ययन की यह अखण्ड परम्परा चली आ रही थी। जिस जमाने में शेप दुनिया के सभी लोग अँधेरे में थे और विद्या से अपरिचित थे, उस समय भी यहाँ यह विद्या विद्यमान थी। यहाँ के निवासी ब्रह्म-वेला मे ही उठ जाते। "अनुब्रुवाण अध्येति न स्वपन्"—वे सुबह सोते नहीं, अध्ययन करते थे।

आज की दुरवस्था

पर आज हम देखते है कि अध्ययन करनेवाले लोगो की भारी कमी है। इस कमी के मूल कारण आज की इसी शिक्षा-प्रणाली में निहित है। जव छात्र इसमें प्रवेश करता है, तो १०-१५ वर्ष मे शिक्षा पाने तक उसका सारा रस सूख जाता है। उसकी प्रेरणा-शक्ति क्षीण हो जाती है। आप देखते ही है कि पाठशाला में जाने के कारण वच्चो की आँखो की ज्योति मन्द पड जाती है, शारीरिक शक्ति क्षीण हो जाती है और मानसिक शक्ति भी क्षीण हो जाती है। बुद्धि की और भी कितनी ही शक्तियो का विकास ही नही हो पाता। सवसे बडी वात तो यह है कि इससे उनमे प्राण-हीनता आ जाती है। उनको आत्मा का भान नही, हम देह से भिन्न है, इस वात का उन्हे पता ही नही और अपनी-अपनी इन्द्रियो पर उनका अपना अधिकार ही नही है। फिर शिक्षा किस वात की मिलती है?

यह वर्णन करते हुए मुझे खुशी हो रही हो, ऐसी वात नही। वास्तव में मुझे यह सोचकर भारी दुख हो रहा है कि किसी समय हमारे देश मे विद्या खूब फली-फूली थी, पर आज उसकी दशा क्या है? रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने हमारे भारत का कैसा सुन्दर वर्णन किया है

"प्रथम साम-रव तव तपोवने,
प्रथम प्रचारित तव वन गहने।
ज्ञान कर्म कत काव्य काहिनी,
अयि भुवन - मन - मोहिनी!"

जगत् का मन मोह लेनेवाली हमारी माता! पहली बार सूर्योदय यहीं हुआ और यहीं पहले पहल साम-गायन हुआ और यहीं से विद्या की किरणें सारे संसार में फैलती रही। जहाँ हम अपनी मातृभूमि का इस प्रकार स्मरण करते हैं, वहीं आज जो यहाँ चल रहा है, उसका वर्णन करते हुए मुझे आनंद नहीं, दुःख ही होता है।

इसलिए मुझे आपसे यही कहना है कि आप एक स्वर से यह माँग करें कि "हमें आज की यह शिक्षा कतई नहीं चाहिए।"

—'सेवक' से

आदर्श विद्यापीठ : २४ :

मनु का एक वाक्य है "बच्चे को जब सोलहवाँ वर्ष लग जाय, तो उसके प्रति मित्र जैसा व्यवहार करना चाहिए।" मैं इस वाक्य का यह अर्थ समझता हूँ कि सोलहवें वर्ष के बाद जीवन का उत्तरदायित्व बच्चे को स्वयं ही सँभाल लेना चाहिए। मित्र को हम लोग सलाह देते हैं। समय पर उसकी मदद करते हैं, पर उसके जीवन का भार उसी पर रहता है।

समर्थ शिक्षा की सुविधा

जीवन का भार सचमुच भार ही नहीं, वह तो उपकार है। पर ऐसी समर्थ शिक्षा मिलनी चाहिए, जिससे वह उपकार मालूम हो। इसी तरह की शिक्षा माता-पिता की ओर से सोलह वर्ष की उम्र तक बच्चों को मिलनी चाहिए। माता-पिता की ओर

से कहने का मेरा तात्पर्य है "समाज की ओर से ऐसी शिक्षा की व्यवस्था होनी चाहिए।" समाज को चाहिए कि वह हर बालक के लिए ऐसी शिक्षा की व्यवस्था कर दे। उसके आगे की शिक्षा वह अपनी कमाई से प्राप्त करे।

मनु के इस वाक्य का यह भी अर्थ निकलता है कि सोलह वर्ष से पहले बच्चे पर जीवन का सारा उत्तरदायित्व डालना उचित नही। इसका यह अर्थ नही कि तब तक बच्चे का जीवन ही नही, बल्कि उसका भार उस पर नही होता। उस अवस्था मे अपना भार स्वय उठाने के लिए उसे धीरे-धीरे तैयार होना पडता है। इस तैयारी को ही 'शिक्षण' कहा जाता है।

दशरथ की दलील

मनु का यह वाक्य शब्द-प्रमाण के रूप मे मैंने उपस्थित नही किया है। मनु का अर्थ कोई व्यक्तिविशेष नही। समाज के हजारो वर्षों के अनुभवो को ही 'मनु' कहा जाता है। विश्वामित्र अपने यज्ञ की रक्षा के लिए दशरथ के पास राम को माँगने के लिए आये। दशरथ बोले "ऊनषोडशवर्षो मे रामो राजीवलोचन"—राम अभी सोलह वर्ष का नही हुआ, इतनी बडी जिम्मेदारी के काम के लिए मै उसे तुम्हें कैसे दे दूं? राम सोलह वर्ष के हो गये होते, तो दशरथ की यह दलील न होती। वसिष्ठ ने उन्हें समझाया "विश्वामित्र के सरक्षण में यह काम होनेवाला है। वह एक शिक्षा-योजना ही है।" तब दशरथ यह बात समझ सके।

नयी तालीम का शिक्षा-काल

दशरथ की यह मान्यता मनु के उक्त वाक्य में है। आधुनिक शिक्षाविदों ने भी उसे मान्य किया है। चौदह वर्ष पूरे होने तक सात वर्ष की शिक्षा-योजना नयी तालीमवालों ने तैयार की है। प्रगतिशील देशों में यह कानून है कि चौदह वर्ष पूरे हुए बगैर बच्चों को कारखाने में काम न दिया जाय। मनु इनसे एक साल आगे है। वे १५ वर्ष पूरे हुए बगैर बच्चे को फॅक्टरी में काम पर जाने न देंगे और १६वाँ वर्ष लगने के बाद उसे कॉलेज में समय का अपव्यय भी करने न देंगे।

आदर्श विद्यापीठ

प्रश्न होगा कि "फिर क्या आपकी इस योजना के अनुसार कॉलेज खाली पड़े रहेंगे? फिर देश की उन्नति कैसे होगी? कॉलेज खाली नहीं पड़े रहेंगे, वे तो ठसाठस भर जायँगे। गरीबों के बच्चे उनमें भरती किये जायेंगे। कॉलेज में ऐसा दृश्य दीख पड़ेगा कि हर छात्र निजी श्रम से ज्ञानरूप अन्न और अन्नरूप ज्ञान कमा रहा है, दो हाथों से पेट का और दो आँखों से बुद्धि का भरण-पोषण हो रहा है। ज्ञान तथा कर्म का भेद ही मिट गया है। वहाँ बच्चों को कोई फीस नहीं लगेगी, बोर्डिंग का कोई खर्च नहीं लगेगा और न अध्यापकों को वेतन ही रहेगा। उद्योगालय, पुस्तकालय और प्रयोगालय की व्यवस्था सरकार द्वारा कर दी जायगी। पाठशालाओं में कोई छुट्टी न रहेगी। कारण, उससे किसीको कोई बन्धन नहीं मालूम पड़ेगा।

आज की खर्चीली शिक्षा

आज के कॉलेजो मे गरीबो को कोई सुविधा ही नही है। हाँ, दो-चार गरीब बच्चो को कृपापूर्वक फीस की माफी मिल जाती है। पर हमारे कॉलेज सभी के लिए खुले रहेगे। श्रीमानो के बच्चो को इतना कष्ट सहना सभव न हो, इसलिए श्रम मे उन्हे एक-आध घण्टे की माफी देनी पडे, तो बात दूसरी है। फिर भी उसमे उनकी दीनता ही प्रकट होगी और इसलिए कोई स्वाभिमानी बालक सहसा उसे कबूल नही करेगा।

हास्यास्पद विद्यापीठ

आज तो कृषि-कॉलेज भी शहर में ही खुलते है। मॅट्रिक पास हुए बगैर उनमे प्रवेश भी नही हो पाता। इसका मतलब यह हुआ कि बच्चो का कृषि-कॉलेज में प्रवेश भी तभी हो सकेगा, जब उनके बारे मे यह विश्वास हो जायगा कि उनमे जाडे-पाले और धूप-बारिश में काम करने की कतई शक्ति नही। कारण, आज की पद्धति के अनुसार मॅट्रिक पास होने का और कोई अर्थ ही नही। प्रोफेसर और छात्र कुर्सी-बेंच पर बैठकर कृषि का ज्ञान प्राप्त करेंगे। प्रयोग के तौर पर खेती नाममात्र की होगी और उसका उत्तरदायित्व भी मजदूरो पर होगा। प्रयोग वे ही करेंगे। बच्चे के खर्च के लिए उसके पिता को हर साल २५ एकड जमीन की पैदावार देनी पडेगी। उसके बिना काम चलने-वाला नही।

विद्यापीठ में स्वावलम्बन

चर्चा चल रही थी कि प्राथमिक शिक्षा के बाद उच्च शिक्षा के कार्यक्रम कैसे हो ? मैंने सुझाव दिया कि "बच्चे छह घण्टे मेहनत करके शरीर-श्रम से रोटी कमायें और दो घण्टे उसके परिपोषक ज्ञान-विज्ञान की उन्हें शिक्षा दी जाय। बच्चो पर खर्च न तो पाठशाला करे और न माता-पिता ही। फिर वे बच्चे चाहे गरीब के हो, चाहे अमीर के। ऐसा करने से ही सच्चा प्रयोग होगा और देश आगे बढेगा।"

आज की दुर्दशा

आज हमने मनु-वाक्य के दोनो अर्थों पर पानी फेर दिया है। असख्य दरिद्र बच्चो को रोटी के लिए पिसना पडता है। फिर भी उन्हें रोटी नही मिलती और शिक्षा तो उन्हे मिलती ही नही। दूसरी ओर, इसके विपरीत पचीस-पचीस साल तक भारभूत शिक्षा के चोचले चलते है। बिना काम किये तिजोरी-भर धन कमाने की चिंता लगी रहती है, जब कि करोडो को काम करके भी पेटभर खाना नही मिलता।

अत "सोलह वर्ष तक स्वावलम्बन की शिक्षा और सोलह वर्ष के बाद स्वावलम्बन से शिक्षा"—यह सूत्र स्वीकार कर तदनुसार शिक्षा-योजना चलाये बगैर इस दुहरी दुर्गति से छुटकारा नही मिल सकता।

—'क्रान्त-दर्शन' से

ग्रामीण विश्वविद्यालय : २५ :

(तालीमी संघ-सम्मेलन, सेवाग्राम)

आवश्यकता से उत्पन्न विचार

'ग्रामीण विश्वविद्यालय' का नाम दीखने में बहुत बडा है। 'विश्वविद्यालय' एक विशाल शब्द है और उसका बहुत व्यापक अर्थ है, लेकिन उसकी एक सीधी-सादी व्याख्या नायकमजी ने आपके सामने रख दी। उन्होने यह कहा कि "जहाँ का जीवन सर्वांगपूर्ण है, वही हमारा देहात का विश्वविद्यालय है।" और यह व्याख्या सही है एव आज जो चर्चा निकली है, वह इस तरह की आवश्यकता मे से निकली है। यानी हम कोई हवा में नही सोच रहे है, बल्कि जमीन पर यह सारा काम हो रहा है। एक आवश्यकता पैदा हुई, उसकी पूर्ति के लिए यह चीज सामने आयी।

हमने इतने साल बुनियादी तालीम चलायी, तो कुछ लडके उसमे तैयार हो गये। हम उनको फिर उत्तर बुनियादी में ले गये। उनका वह कार्यक्रम खतम होने पर आया। अब हमारे सामने यह सवाल पैदा होता है कि इन लडको का हम क्या करे? उनका शिक्षण जहाँ तक हुआ, वही हमारा पूर्ण आदर्श है, ऐसा समझकर क्या उसे समाप्त करें? जितना वे पढ चुके, वह कोई कम नही। उससे वे देश को लाभ पहुँचा सकते और जीवन मे अपने प्रयत्न से आगे प्रगति कर सकते हैं। लेकिन उनमे से अगर कुछ आगे पढना चाहे, तो उनके लिए कुछ सुविधा है या नही? इसपर

हमने सोचा, तो हमें दीख पड़ा कि 'परिपूर्ण' की हमारी जो अधिक-से-अधिक व्याख्या है, वह आखिरी व्याख्या जीवन में जब अमल में आयेगी तब आयेगी, लेकिन 'परिपूर्ण' की जो कम-से-कम व्याख्या है, उस व्याख्या के मुताबिक भी वे लड़के पूर्ण हुए हैं और हमारे शिक्षण का नमूना दुनिया के सामने हमने रख दिया है, ऐसा नहीं है। इसलिए उनके आगे के शिक्षण की कोई व्यवस्था होनी चाहिए। इस तरह विश्वविद्यालय की आवश्यकता पैदा हुई।

नमूना अभी तैयार नहीं

अब बीच में यह भी सवाल पैदा हुआ कि क्या हम यह देहात के लिए अलग विश्वविद्यालय चलायेंगे और शहर के लिए अलग? मैं यह बात पहले ही स्पष्ट कर चुका हूँ कि 'बुनियादी' तालीम आदि से अन्त तक 'बुनियादी' ही रहनी चाहिए। आज जो विश्वविद्यालय चालू हैं, वे अगर नयी तालीम के हमारे 'विचार' को कबूल करें, तो उन्हें अपनी पद्धति में वैसा परिवर्तन करना पड़ेगा। लेकिन आज यह चीज सम्भव नहीं जान पड़ती। इसका एक कारण यह है कि उनका जो पुराना ढाँचा बना है, वह एकदम से नहीं बदल सकता। इसके अलावा इसका दूसरा कारण यह है कि देश के सामने हम अपने विद्यापीठ का अभी कोई नमूना पेश नहीं कर सके हैं, इसलिए हम अभी यह नहीं कह सकते कि सारे विश्वविद्यालय अब बदल दो। हमने जो बुनियादी काम किया है, वह इस हद तक आ पहुँचा है कि हम कह सकते हैं कि उसके जो प्रयोग और अनुभव हुए, उनके आधार पर सरकार को अभी की

जो प्राथमिक शालाएँ हैं, वे बदली जा सकती हैं। उससे उन्हे जरूर लाभ होनेवाला है, यह हम दावे के साथ कह सकते हैं, लेकिन हम यह नही कह सकते कि विश्वविद्यालय का भी नमूना हमारे पास तैयार है और उस नमूने पर सारा ढाँचा बदल दे।

विद्यापीठ स्वावलम्बी हों

विश्वविद्यालय का जब हम विचार करें, तो हमारे पास जो लडके हैं, उनका खयाल करके ही हमें कोई योजना बनानी चाहिए। नही तो होगा यह कि विश्वविद्यालय एक ऐसा व्यापक विषय है कि उसके बारे में कई तरह के लबे, चौडे और गहरे विचार हम करेंगे और कुल मिलाकर प्रत्यक्ष कोई चीज नही बनेगी।

अत किशोरलालभाई ने जो एक बात रखी, वह महत्त्व की है। उन्होने कहा कि "जब हमारे लडके उत्तर-बुनियादी शिक्षा प्राप्त कर चुके, तो वे स्वावलबी बन गये, इतना तो मान ही लेना चाहिए।" उनका यह कहना ठीक है। सिर्फ इसलिए नही कि हमारा देश दरिद्र है और शिक्षको तथा विद्यार्थियो पर बहुत ज्यादा खर्च भी नही कर सकता, इसलिए हमे स्वावलबन करना चाहिए, बल्कि इसमें वस्तुत शिक्षण की ही दृष्टि मुख्य है। देश की गरीबी हमें इसमे प्रेरणामात्र दे रही है।

देहाती विश्वविद्यालय कैसा हो ?

इस दृष्टि से विचार करें, तो यह बात समझ मे आ जायगी कि हमारे देहाती विश्वविद्यालय का स्वरूप कैसा होगा। उसके

शिक्षक और विद्यार्थी, दोनो को जैसे सुसज्जित पुस्तकालय की आवश्यकता होगी, उसकी व्यवस्था कर दी जायगी। उनको जो औजार चाहिए, वे दिये जायँगे, जमीन आदि जो चाहिए, वह दी जायगी और मकान भी कुछ बनाकर दिये जायँगे, शेष वे खुद बनायेंगे। इतना करने के बाद उनसे कहा जायगा कि इसके आगे आपको और कोई चीज मिलनेवाली नही है। अब दोनो मिलकर एक सामूहिक जीवन जिये और देश के सामने नमूना पेश करें कि उत्तम-से-उत्तम समग्र जीवन कैसा होता है। ऐसे विश्वविद्यालय में ज्ञान-चर्चा होगी, प्रयोग किये जायँगे, उन प्रयोगो के जो नतीजे आयेंगे, वे देश के सामने रखे जायँगे, यह सब होगा। लेकिन मुख्य चीज यह होगी कि सीखने और सिखानेवाले, दोनो ही अपने पैरो पर खडे हैं, हाथो से काम करते तथा अपनी रोटी कमाते है। जैसे-तैसे नही, बल्कि उत्तम-से-उत्तम तरीके से कमाते हैं, यह दिखा देंगे। उनका जो काम वहाँ होगा, जो विद्या पढायी जायगी, जो औजार बनेंगे, जो मकान आदि बनेंगे, उन सब कामो में उनकी विद्या की झाँकी दीख पडेगी। हमारे विश्वविद्यालय के लिए किताबें पहले से नही बनेंगी, बल्कि विश्वविद्यालय ही अपने लिए किताबें बाद मे बनायेगा। उसके अनुभव में से ही दुनिया को किताबें मिलनेवाली है। अगर हमारा विश्वविद्यालय इस तरह काम करेगा और देश के सामने एक नमूना पेश करेगा, तो वह बिना किसी शोरगुल के अपना काम करता रहेगा। ऐसे प्रत्यक्ष अनुभव से जो चीज तैयार होगी, वह दुनिया को विश्वविद्यालय की भारी देन होगी।

—'सर्वोदय' से

आदर्श पाठशाला कैसी हो ? : २६ :

(तुमसर विद्यालय में)

हिन्दुस्तान की बुरी दशा

मेरी दृष्टि से हमारे शिक्षण मे सबसे बडी जरूरत अगर किसी चीज की है, तो विज्ञान की। हिन्दुस्तान कृषिप्रधान देश भले ही कहलाता हो, फिर भी उसका उद्धार सिर्फ खेती के भरोसे नही होगा। यूरोपीय राष्ट्र उद्योग-प्रधान कहलाते हैं। हिन्दुस्तान में खेती-प्रधान व्यवसाय होते हुए भी यहाँ प्रतिव्यक्ति सवा एकड जमीन है। इसके विपरीत फ्रास में, जो एक उद्योग-प्रधान देश कहलाता है, प्रति मनुष्य साढे तीन एकड जमीन है। इस पर से मालूम होगा कि हिदुस्तान की हालत कितनी बुरी है। इसका मतलब यह है कि हिन्दुस्तान मे अकेली खेती ही होती है और कुछ नही होता। यह हालत बदल देने के लिए हमारे यहाँ के विद्यार्थी, शिक्षक और जनता, सभी को उद्योग में निपुण बन जाना चाहिए। उसके लिए उन्हें विज्ञान सीखना चाहिए।

आहार-विज्ञान

हमारा रसोईघर हमारी प्रयोगशाला होनी चाहिए। वहाँ जो आदमी काम करे, उसे इन सारी बातों की जानकारी होनी चाहिए कि किस खाद्य पदार्थ मे कितना उष्णाक है, कितना ओज है, कितनी चिकनाई है। उसमें यह हिसाब करने की सामर्थ्य होनी चाहिए कि किस उम्र के मनुष्य को किस काम के लिए कैसे आहार की जरूरत होगी।

मल-विज्ञान

शौच को तो सभी जाते हैं। लेकिन स्कूलवालो को मल के सम्बन्ध मे विशेष ज्ञान होना चाहिए। मैले का क्या उपयोग होता है? सूर्य की किरणो का उस पर क्या असर होता है? मैला अगर खुला पडा रहे, तो उससे क्या नुकसान है? उससे कौनसी बीमारियाँ पैदा होती हैं? जमीन को अगर उसकी खाद दी जाय, तो उसकी उर्वरता कितनी बढती है?—आदि सारी बातो का शास्त्रीय ज्ञान मल-विज्ञान की सहायता से हमारे छात्रो को कराना चाहिए। मैने तो उस पर एक सूत्र ही बनाया है—'प्रभाते मलदर्शनम्।' मल से हमें आरोग्य का ज्ञान होता है और यह जानकर कि शरीर मलागार है, देहासक्ति भी कम होती है।

आरोग्य-विज्ञान

कोई लडका बीमार हो जाता है। वह क्यो बीमार हुआ? बीमारी मुफ्त में थोडे ही आयी है, तुमने उसे गिरह से कुछ खर्च करके बुलाया है। अतिथि की तरह उसका खयाल रखना चाहिए। वह क्यो आयी, कैसे आयी आदि बातो की खोज करनी चाहिए। जब वह आ ही गयी है, तब उससे सारा ज्ञान ग्रहण कर लेना चाहिए। इसमें शिक्षण की बात है। 'वह ज्ञानदाता रोग आया और गया, हम कोरे-के-कोरे रह गये।' यह दूसरो के साथ भले ही होता हो, हमारे साथ हरगिज न होना चाहिए।

खादी-विद्या

तुम यहाँ सूत कातते हो, खादी भी बना लेते हो। तुम्हें

बधाई है। लेकिन खादी के बारे मे शास्त्रीय प्रश्नो के जवाब यदि तुम न दे सको, तो पाठशाला और उत्पत्ति-केंद्र यानी कारखाने में फर्क ही क्या रहा ? लेकिन मै तो अपने कारखाने से भी इस ज्ञान की आशा रखूंगा।

ज्ञानदृष्टि आवश्यक

विद्यार्थी भोजन करते है और दूसरे लोग भी, लेकिन दोनो के भोजन करने में काफी फर्क होना चाहिए। विद्यार्थियो का भोजन ज्ञानमय होना चाहिए। जब विद्यार्थी अनाज पीसेगा और छानेगा, तो वह लिखकर रखेगा कि उसमें से कितना चोकर निकला। मान लीजिये कि सेर में आठ तोले चोकर निकला। यानी दस प्रतिशत चोकर निकला। यह बहुत ज्यादा हुआ। दूसरे दिन वह पडोसी के यहाँ जाकर वहाँ का चोकर तौलेगा। वह देखता है कि उसके आटे में से ढाई तोले ही चोकर निकला। दस प्रतिशत चोकर निकलने मे क्या हर्ज है ? उतना चोकर अगर पेट में जाय, तो नुकसान क्या होगा ?—आदि प्रश्न उसके मन में उठने चाहिए और उनके उचित उत्तर भी उसे मिलने चाहिए। तब ऐसा होगा, जैसा कि गीता में कहा है, तभी उसका हरएक काम ज्ञान-साधन होगा।

उद्योग में विज्ञान

इस प्रकार प्रयोग-बुद्धि और ज्ञान-दृष्टि से प्रत्येक काम करने मे थोडा खर्च तो होगा ही, लेकिन उससे उतनी कमाई भी होगी। स्कूल में जो चरखा होगा, वह बढिया होगा। चाहे जैसे

चरखे से काम नही चलेगा। स्कूल में काम चाहे थोडा कम ही हो, लेकिन जो कुछ काम होगा, वह आदर्श होगा। कपास तौलकर ली जायगी। उसमें से जितने विनौले निकलेंगे, वे भी तौल लिये जायगे। रोमिन्यो में से जव इतने विनौले निकले, तव व्हेरम में से इतने क्यो? इस तरह का सवाल पूछा जायगा और उसका जवाव भी दिया जायगा। विनौला मटर के आकार का होकर भी दोनो के वजन में इतना फर्क क्यो? विनौले में तेल होता है, इसलिए वह हलका होता है। फिर यह देखा जायगा कि इसी तरह के दूसरे धान्य कौनसे है? इसके लिए तराजू की जरूरत होगी। वह वाजार से नही खरीदी जायगी। स्कूल में ही वनायी जायगी। हरएक काम अगर इस ढग से किया जाय, तो विज्ञान शुरू हो गया। इस तरह यदि हर वात की जानी लगे, तो ज्ञान कितना मनोरजक होगा! फिर उसे कौन भूलेगा? अकवर किस सन् में मरा, यह रटने की क्या जरूरत है? वह तो मर गया, लेकिन हमारी छाती पर क्यो सवार हुआ? मै इतिहास रटने को नही पैदा हुआ हूँ। मै तो इतिहास वनाने के लिए पैदा हुआ हूँ।

विज्ञान और अध्यात्म

दो विद्याएँ सीखना आवश्यक हैं (१) हमारे आसपास की चीजो को परखने की शक्ति अर्थात् विज्ञान और (२) आत्मज्ञान अर्थात् अध्यात्म। इसके लिए वीच में निमित्तमात्र भाषा की जरूरत होती है। उसका उतना ही ज्ञान आवश्यक है। भाषा चिट्ठीरसाँ का काम करती है। अगर मै चिट्ठी में कुछ भी न

लिखूं, तो वह कोरा कागज भी चिट्ठीरसाँ पहुँचा देगा। भाषा विद्या का वाहन है। विज्ञान और अध्यात्म ही विद्या है। उसीका मैं विचार करूंगा। मेरा चरखा अगर टूट गया, तो क्या मैं बैठकर रोऊँगा ? मैं बढई के पास जाकर उसे सुधरवा लूंगा। उसी तरह अगर मुझे बिच्छू ने काट खाया, तो मुझे रोते नही बैठना चाहिए। उसका उपचार करके छुट्टी पानी चाहिए। यही मेरी शाला की परीक्षा होगी। मैं भाषा का परचा निकालने की झझट में नही पडूंगा। लडको की बोलचाल से ही मै उसका भाषा-ज्ञान भाप जाऊंगा।

पाठशाला सजायें

स्कूल में होनेवाला प्रत्येक काम ज्ञान का साधन बन जाना चाहिए। इसके लिए स्कूलो को सजाना होगा। अच्छे-अच्छे साधन जुटाने होगे। श्री रामदास स्वामी ने कहा है "ईश्वर का वैभव बढाओ।" लोगो को अपने घर सजाने के बदले शालाएँ सजाने का शौक होना चाहिए। उन्हे शाला की आवश्यक चीजें उपलब्ध करा देनी चाहिए।

ऊपर की सभी बातें मैंने अपने अनुभव से बतायी हैं। इनका तुम्हारी मडली मे उपयोग होगा, ऐसी मैं आशा करता हूँ।

—'जीवन-दृष्टि' से

सेवाग्राम का प्रयोग : २७ :

आज सुबह मैं सेवाग्राम हो आया। वहाँ तालीमी-संघ में एक महान् प्रयोग चल रहा है। बच्चे अनाज पैदा करते हैं, साग-सब्जी पैदा करते हैं और कुछ फल पैदा करने का भी प्रयत्न जारी है। कताई से लेकर बुनाई तक सारी क्रियाएं स्वयं करके कपड़ा तैयार कर लेते हैं। वे अपने हाथ से आटा पीसते हैं, खुद रसोई बनाते हैं। घर का सारा काम स्वयं कर लेते हैं। बीमारों की सेवा करते हैं। घानी चलाकर तेल पेरते हैं। अब मिट्टी के बर्तन बनाने की भी तैयारी चल रही है। अपना जमा-खर्च स्वयं लिखते हैं और यह सब करते हुए कठिन शिक्षा भी ग्रहण करते हैं। उनका वह प्रयोग देखकर यही इच्छा होती है कि हम भी बच्चों के साथ काम में हाथ बँटायें।

ज्ञान और कर्म

इस शिक्षा-पद्धति ने विचारों का बहुत कुछ झगड़ा ही मिटा दिया है। कुछ विचारक कहते हैं कि ज्ञान और कर्म में विरोध है। कुछ विचारक कहते हैं कि विरोध तो नहीं है, पर दोनों में भेद है। कुछ का कहना है कि भेद तो है, पर दोनों का संयोग होना चाहिए। पर इस पद्धति में दोनों एकरूप हो जाते हैं। कर्म से ज्ञान मिलता है, ज्ञान से कर्म सम्पन्न होता है और ज्ञान तथा कर्म, दोनों के मिलने से चित्त का विकास होता है। देखने में तो बच्चा कर्म करता दिखाई पड़ता है, पर भीतर से वह ज्ञान प्राप्त करता रहता है। शिक्षक उसकी सहायता के लिए निमित्तमात्र होता है।

नयी पद्धति का लाभ

यह सब लिखकर मै यह नही सुझाना चाहता कि उस जगह जो कुछ चल रहा है, वह परिपूर्ण या निर्दोष ही है। वहाँ की कमियाँ मै जानता हूँ, पर उसमे की दृष्टि निर्दोष होने से चित्त का समाधान होता है। हिंदुस्तान में सर्वत्र इस पद्धति की शिक्षा चल पडे, तो ऊँच-नीच, अमीर-गरीब आदि सारे भेद मिट जायँगे। श्रम की प्रतिष्ठा कायम होगी। समाज को अच्छे सेवक मिलेंगे, अच्छे रक्षक मिलेंगे। हर गाँव स्वावलबी होगा।

जानकारी और विकास

देख रहा हूँ कि आज भी इस ओर हम लोगो का जितना ध्यान जाना चाहिए, उतना नही गया। जिन्होने प्राचीन पद्धति से शिक्षा पायी, वे बच्चो से इतना ही पूछते हैं कि क्या जानकारी हासिल की। वे नही जानते कि जानकारी का शिक्षा से, चित्त-विकास से बहुत ही कम सबध है। आवश्यकता पडने पर बाह्यज्ञान प्राप्त करने की योग्यता बच्चे में हो, तो बस है। वह योग्यता हासिल करा देना शिक्षा का काम है। पर सचाई, कार्यकुशलता, सेवा-भाव आदि गुण—ये ही मुख्य चीजें हैं। इस दृष्टि से देखने पर यही कहना पडेगा कि शिक्षाशास्त्र मे यह बहुत बडी खोज है।

माता-पिता ध्यान दें

जिन्हें ईश्वर ने बच्चे दिये हैं, अगर वे इस पद्धति का अध्ययन करे और अपने बच्चो को यही शिक्षा दें, तो बहुत बडा लाभ

होगा। अधिकतर होता यह है कि हम अपने बच्चो को अपनी योजनाओ से दूर रखते है। योजना दूसरे के लिए बची रहती है। फलत वह सारहीन बन जाती है। अगर यही शिक्षा हम अपने बच्चो को दें, तो वह कसी जा सकेगी और फिर उसके हिन्दुस्तानभर में फैलने में देर न लगेगी। कारण, शिक्षा ही ऐसी चीज है कि वहाँ लम्बाई-चौडाई का महत्त्व नहीं है, केवल गहराई का ही महत्त्व है। यदि एक जगह भी शिक्षा का एक-आध गहरा प्रयोग हो जाय, तो स्वत उसका सर्वत्र प्रचार हो जाता है। इसलिए सरकार इस बारे में क्या कर रही है, इसकी चिन्ता छोड अगर हम लोग इसमें रस लें और अपने बच्चो को इस पद्धति से शिक्षा दें, तो बहुत बडा काम होगा।

—'सेवक', मार्च १९४८

नित्य-नयी तालीम : २८ :

नित्य-नयी तालीम का अर्थ

बच्चो की तालीम एक शुभ कार्य है। यह सेवाग्राम में बरसो से चल रही है। इसे 'नयी तालीम' नाम दिया गया है लेकिन मै इसे 'नित्य-नयी तालीम' कहता हूँ। नित्य-नयी तालीम का मतलब है - जो कल थी, वह आज नहीं है और जो आज है, वह कल नहीं रहेगी, जैसे नदी का पानी। नदी बहती रहती है, लेकिन प्रतिक्षण उसका पानी नया होता है। वैसे ही रोज के अनुभव के आधार पर जो नित्य बदलती रहती है, वह है, नित्य-नयी तालीम।

बना-बनाया ढाँचा व्यर्थ

लोग तालीम का एक ढाँचा बनाते है। जहाँ ढाँचा बना, वहाँ तालीम बिगडी। इसलिए मैने अपने जीवन मे निश्चय कर लिया है कि इस तरह का ढाँचा जीवन में नही बनने दूंगा। रोज नये-नये अनुभव आते है, उनके अनुसार हमारा जीवन नित्य बदलने की शक्ति हममे होनी चाहिए।

स्थानीय पाठ्य पुस्तकें हों

हमने बुनियादी तालीम से आरभ किया था। अब पूर्व-बुनियादी में प्रवेश कर रहे है। उसमे भी देहातो की दृष्टि से काम करना है। इसलिए पुराने विचार यहाँ काम नही देगे। हर देहात की परिस्थिति अलग-अलग होती है। उस परिस्थिति का खयाल करके तालीम का विचार करना होगा। जिस देहात में नदी का किनारा होगा, उस देहात के बच्चो की तालीम एक ढग की होगी, तो जिस देहात में पहाड होगे, वहाँ वह दूसरे ढग की होगी। जिस देहात के आसपास जगल होगा, वहाँ की तालीम तीसरे ढग की होगी। हर देहात का वातावरण देखकर अलग-अलग ढग की तालीम की रचना करनी होगी। तालीम का बना-बनाया ढाँचा या बनी-बनायी पुस्तकें सब देहातो के लिए काम नही देंगी। आजकल तो सारे प्रान्त के लिए एक ही किताब सब स्कूलो में चलती है। ऐसी पुस्तक में हर देहात की जो विशेषता या भिन्नता होती है, उसका कुछ खयाल नही रहता। वह एक सर्व-सामान्य पुस्तक होती है। इसलिए बच्चो को उसमें दिलचस्पी

पैदा नही होती और उस गाँव के लिए वह खास काम की भी नही होती।

जिंदा इतिहास-भूगोल

किताबें तो हमारे स्कूलो के लिए भी चाहिए, लेकिन हमारी किताब हर देहात की परिस्थिति ध्यान में रखकर अलग-अलग प्रकार की होगी। उस-उस देहात का वातावरण उसमें रहेगा। सेवाग्राम के स्कूल मे अगर इतिहास पढाना होगा, तो वहाँ जितनी सस्थाएँ है, उनका इतिहास उस पुस्तक में होगा। सेवाग्राम गाँव कैसे बना, यह उसमें बताया गया होगा। गाँव के बूढे लोगो के अनुभव उसमें दिये होगे। इस तरह से वह एक जिंदा इतिहास होगा। भूगोल भी सेवाग्राम के इर्द-गिर्द से शुरू होगा। जिस देहात में हम होगे, वह सारी दुनिया का मध्य-बिंदु है, क्योकि हम वहाँ रहते है और उसके इर्द-गिर्द दुनिया पडी है, ऐसा समझकर हमारा भूगोल बनेगा।

नित्य परिवर्तनशीलता

यह है हमारा विचार। नित्य नया अनुभव लेते जायँगे और प्रयोग करते जायँगे। पिछले अनुभव पर जिस चीज को बनाया होगा, उसे नया अनुभव मिलने के कारण तोड दिया और दूसरी नयी चीज बनायी। इस तरह बनाते जाने और तोडते जाने का सिलसिला लगातार चलता रहेगा।

नयी तालीम का तत्त्व

मुझसे अगर कोई पूछेगा कि "बच्चो की तालीम का तत्त्व

क्या है ?" तो थोडे में मै यही कहूँगा कि "तालीम देनेवाले शिक्षको को बच्चे बनना है और तालीम लेनेवाले बच्चो को बडे बनना है । शिक्षक अगर बच्चा नही बन सकता, तो वह तालीम नही दे रहा है और बच्चा अगर बडा नही बनता, तो वह तालीम नही पा रहा है, यही समझना चाहिए।"

प्रार्थना मातृभाषा में हो

अब बच्चो के साथ हम जो काम करेंगे, वह हमारे रोज के जीवन से सबध रखनेवाला होना चाहिए । हर काम के पीछे जो विचार होगा, वह बच्चो को समझाना चाहिए। जैसे, हम रोज प्रार्थना करते है, तो वह बच्चो की मातृभाषा मे होनी चाहिए। कुरान अरबी में पढेंगे, तो पुण्य लगेगा और मराठी में गाया कि कुरान खतम हो गया, ऐसा नही लगना चाहिए। यही बात वेद के मन्त्रो के बारे मे और अन्य प्रार्थनाओ के बारे में भी लागू होती है। प्रार्थना जब बच्चो की मातृभाषा मे होगी, तभी वे उसका अर्थ समझेंगे। जहाँ अर्थ का ज्ञान नही होता, वहाँ प्रार्थना का कोई खास मतलब नही रहता।

ट्रेनिंग लेनेवाले शिक्षक

यहाँ दूसरे प्रातो से जो शिक्षक आते हैं, उनके लिए कुछ अभ्यासक्रम रखा जाता है। वे यहाँ नयी तालीम के विषय पर व्याख्यान सुनते हैं, लेकिन मै तो उन्हे पूरे सालभर में अभी आपके सामने दिया उतना ही, एक व्याख्यान दूंगा और कहूँगा कि "अब काम में लग जाओ!" और रोज के काम में जो भी मुश्किलें

आयें, उनकी शाम को चर्चा करना चाहूँगा। बी० ए०, एम० ए० वगैरह की जो तालीम अब तक उन्होंने पायी है, उसमें तो वे व्याख्यान ही सुनते थे। यहाँ भी वे व्याख्यान ही सुनते रहेंगे, तो सच्ची तालीम नहीं पा सकेंगे। मैं उनसे कहूँगा कि "आपको सरकार की ओर से जो कुछ छात्रवृत्ति मिलती है, उसे आप घर भेज दें, लेकिन यहाँ आप एक माह तो अपनी रोटी कमाकर दिखायें।" "क्या आप दिनभर में दस-बारह गज बुन लेते हैं?" ऐसा मैं उनसे पूछूँगा। इस पर यदि वे कहेंगे कि "प्रत्यक्ष बुनना तो हम नहीं जानते, लेकिन बुनाई का उसूल जानते हैं", तो मैं कहूँगा . "खाने का उसूल तो आप जानते हैं, फिर रोज खाते क्यों हैं?" मतलब यह कि हमारी विद्या केवल शब्द-विद्या नहीं होनी चाहिए, वह वीर्यवती होनी चाहिए।

पुरानी विद्या का मोह

लेकिन दरअसल बात ऐसी है कि हमारे दिमागों में पुरानी विद्या ही भरी है। शिक्षक यहाँ बच्चों को रसोई, कताई, बुनाई आदि सिखाते हैं, लेकिन कुल मिलाकर यह सोचते हैं कि बाहर के स्कूलों के बच्चों की तुलना में हमारे बच्चों का स्तर कितना है? बाहर के बच्चों के साथ हमारे बच्चों की तुलना ही क्या हो सकती है? हमारा बच्चा अच्छी तरह तैर सकता है, इतना ही नहीं, बल्कि दूसरे को बचा भी सकता है। क्या बाहर के स्कूल का बच्चा इस तरह तैर सकेगा? वह डूब जरूर सकता है। लिखने-पढ़ने की कोई कीमत नहीं है, ऐसा मुझे नहीं कहना है,

लेकिन दूसरे दस-बीस गुण होते है, उनमे से यह भी एक है। उसे इतना अधिक महत्त्व क्यो दिया जाय ?'[1]

—'सेवक' से मार्च १९५०

गाँव का स्फूर्तिस्थान : २६ :

कल मैंने प्रार्थना में कहा था कि 'आप हिंदुस्तान का नमक खाये है। अगर आप लोग कुछ नही कर सके, तो हिंदुस्तान में और कोई कर सकनेवाला नही है। जो लोग सरकार मे दाखिल हो गये है, वे हमारे में से उत्तम-से-उत्तम लोग है। लेकिन हमे समझना चाहिए कि सरकार सभी काम नही कर सकती। नयी तालीम का विषय भी ऐसा ही है कि उसका कुछ हिस्सा सरकार कर सकती है और कुछ नही भी कर सकती।

नयी तालीम सर्वसंग्राहक

नयी तालीम इतनी व्यापक है कि उसमें हिंदुस्तान की सेवा का हरएक प्रकार आ जाता है। अभी हमने 'सर्व-सेवा-सघ' बनाया, तो नायकमजी ने कहा कि "इसकी जरूरत क्या है ? नयी तालीम ही सर्व-सेवा-सघ है।" इस विचार को मै मानता हूँ। लेकिन सर्व-सेवा-सघ की कल्पना भिन्न है। हरएक सघ की योजना-शक्ति अलग-अलग होती है। उन्हे जोडने के लिए सर्व-सेवा-सघ है।

तालीमी-संघ की मर्यादा

'तालीमी-सघ' एक चीज है और नयी तालीम दूसरी चीज।

---

[1] सेवाग्राम में दिनांक १६-२-५० को बुनियादी शाला की इमारत की नींव डालते समय किया गया भाषण।

तालीमी-सघ एक छोटी चीज है और नयी तालीम बडी चीज। तालीमी-सघ कुछ मार्गदर्शन करेगा। लेकिन उसे खुद को जितना दर्शन हुआ होगा, उतना ही वह दूसरो को देगा। तो, पहली बात मुझे आपको यह कहनी है कि तालीमी-सघ के मार्गदर्शन को आप बहुत महत्त्व न दें। आपको अपनी स्वतन्त्र बुद्धि चलानी चाहिए।

पुराने लोग अपूर्ण

समझना यह चाहिए कि हम लोग, जिन्होने यह योजना बनायी है, वे सारे कच्चे हैं। हमें खुद को जो तालीम मिली है, वह तो पुरानी ही है। हमारे विचार मे यह एक नयी दृष्टि आयी है सही, पर इसके कारण हमारा जीवन भयकर बन गया है। मैंने अपने जीवन को 'नरसिंह' की उपमा दी है। नरसिंह पूरा पशु भी नही था और न पूरा मनुष्य ही। उसके पहले 'वराह' हुआ, वह पशु था। उसके बाद का 'वामन' मनुष्य था। लेकिन यह बीच का जो नरसिंह-अवतार है, वह सब अवतारो से भयकर है। वैसे ही हम लोग भयकर हैं, जिन्होने तालीम तो पुरानी पायी है और विचार सोचा है नयी तालीम का।

नयी तालीम को पैसा नहीं चाहिए

मैं तो यह मानता हूँ कि जो शिक्षा-पद्धति हम चलाना चाहते है उसके लिए एक कौडी की भी जरूरत नही होनी चाहिए। भगवद्गीता में कहा है . "त्यक्तः सर्वपरिग्रह" "शारीर केवल कर्म"—सारा परिग्रह छोडकर शरीर से काम करो।

मान लें, मै किसी देहात में जाकर नयी तालीम चलाना

चाहता हूँ, तो वहाँ के मजदूरो के साथ खेत में काम करने जाऊँगा और खेत का मालिक जो मजदूरी देगा, उस पर गुजारा करूँगा। इस तरह अगर मैं जीना शुरू कर दूँगा, तो नयी तालीम का उत्तम शिक्षक बनूँगा। हमारे जो उत्तम शिक्षक हो गये हैं, उन्होंने प्राचीन-काल में इसी तरह काम किया है। कबीर एक उत्तम शिक्षक था और उसकी तालीम को हिन्दुस्तान के लोग अभी तक भूले नहीं हैं। ऐसा ही एक शिक्षक 'वळ्ळुवन्' था, जिसने तमिलनाड को सर्वोत्तम शिक्षा दी है। 'नामदेव' दर्जी का काम करता था, तो कबीर और वळ्ळुवन् बुनने का काम। ऐसे ही दूसरे संत हो गये, जो कुछ-न-कुछ काम करते थे। उन्होंने हमें सिखाया है कि "मुख मे परमेश्वर का नाम और हाथ में उत्पादन का काम।" तो अब मैं पूछूँगा कि देहात मे जाकर खेत में काम करने के लिए सिवा मेरे दो हाथो के और मुझे क्या चाहिए ?

देहात में नयी तालीम

गाँव में जाने के लिए लोग डरते है। गाँव मे जितना प्रेम है, उसकी तुलना शहरवाले अपने जीवन से करें, तो मालूम होगा कि शहरवालो का जीवन कितना दरिद्र है। ग्राम मे एक समष्टि-जीवन है। शहर में हरएक का जीवन अलग-अलग है। शहर में लोग अपने स्वार्थ के लिए इकट्ठे हुए है। इसीलिए किसी कवि ने कहा है कि "भगवान् ने ग्राम निर्माण किये और मनुष्य ने शहर।" अगर शिक्षण की योग्यता रखनेवाला मनुष्य मजदूरो में जाकर काम शुरू कर देगा, तो वह खुद सीखेगा और उन्हें भी

सिखायेगा। वहाँ के लडको को हम रात को या दोपहर को जब समय मिलेगा, तब सिखा सकते हैं। अगर आपको चरखे की जरूरत पडी तो वह चरखा अपना दाम पद्रह दिन मे चुका देगा। अगर आप तकली की जरूरत समझे, तो तकली अपनी कीमत एक दिन मे चुका देगी। यही उन छोटे-छोटे औजारो की खूबी है। आप अपने औजार खुद भी बना सकते है और अगर वैसे बनाते हैं, तो आप देखेंगे कि नयी तालीम के लिए वह बहुत अच्छा विषय हो जाता है। इसलिए शरीर परिश्रम-निष्ठा, अपने देहाती भाइयो पर प्रेम, काम करने की काबिलीयत और वैज्ञानिक दृष्टि लेकर स्वतत्र बुद्धि से आप गाँव मे जाइये और आपको जैसा सूझे, उस तरह से तालीम देना शुरू कर दीजिये।

छुट्टी का प्रश्न

मैने पहले ही कहा कि 'मै तो गाँव मे आरभ ही खेती का मजदूर बनकर करूँगा।' लेकिन मै देखता हूँ कि हमारे स्कूलो को उन दिनो छुट्टी होती है, जिन दिनो खेती पर कोई काम नही रहता है। गर्मी की छुट्टी हमे अग्रेजो ने सिखायी और हमने उसीको पकड रखा। उन्होने सिखाया कि गर्मी में काम कम होता है और 'एनर्जी' (उत्साह) टिकी नही रहती। लेकिन हम देखते है कि पृथ्वी के जिस भाग में बहुत उष्णता होती है, उसमे मजबूत पेड पैदा होता है। इसलिए स्कूल को अगर छुट्टी देनी ह, तो बारिश के दिनो मे देनी चाहिए। लेकिन मै उसे छुट्टी नही कहूँगा। कारागार के लिए छुट्टी की बात समझ में भी आती

हैं और चूंकि हमारे पुराने स्कूल जल जैसे थे, इसलिए उन्हें छुट्टी की आवश्यकता थी। लेकिन हमारे लिए तो एक दिन भी छुट्टी का नही होना चाहिए। अगर ज्ञान में आनन्द है, तो छुट्टी कैसी ?

बुद्धि द्वारा क्रान्ति

मुझे याद है कि मै पवनार से सुरगाँव, जो वहाँ से तीन मील पर है, रोज भगी काम के लिए जाता था। वारिश के दिनो में भी जाता था। तो लोगो ने पूछा "इतनी वारिश है, तो आप क्यो आते हैं ?" मैंने कहा "भाई, दूसरो को छुट्टी हो सकती है, लेकिन भगी को छुट्टी कैसे ?" मेरा आदर्श तो सूर्यनारायण है। सूर्यनारायण तो सवसे वढकर भगी है। हम इतनी गदगी करते हैं कि हिन्दुस्तान में अगर अच्छा सूर्य-प्रकाश न होता, तो हम कवके खतम हो जाते। लेकिन मुझे दु ख इस वात का हुआ कि सूर्यनारायण का अनुकरण मै सालभर नही कर सका और बीमारी के कारण ९ दिन काम पर नहीं जा सका। मेरे काम का उस गाँव पर यह परिणाम हुआ कि 'भगी' के काम को गाँववाले एक अत्यत पवित्र काम समझने लगे।

एक दिन मैने देखा कि गणपति-उत्सव के दिन मेरे जाने के पहले ही सारा गाँव साफ हो गया। मै वहाँ सुबह सात वजे पहुँचा। सारा गाँव साफ देखकर मैंने पूछा कि "गाँव किसने स्वच्छ किया ?" गाँववालो ने कहा "आज गणपति-उत्सव का दिन था, तो हम लोगो ने सोचा कि आज कोई पवित्र काम करना चाहिए अत हमारे नौजवानो ने यह काम कर डाला।" मै इसको

क्राति कहता हूँ। ऐसी क्रान्ति कोई राज्य-सत्ता नही कर सकती। इसीलिए जब मैने कल सुना कि 'सत्ता के बगैर समाज-क्राति नही हो सकती' तो वह बात मुझे जँची नही। मै तो इससे बिलकुल उल्टा मानता हूँ। कोई भी सरकार क्राति नही कर सकती। क्राति करना सरकार का काम ही नही है।

मै तो कहूँगा कि इस तरह की क्राति का काम तालीमी-सघ भी नही कर पायेगा। यह तो आप लोगो में भगवान् ने जो बुद्धि दी है, वह बुद्धि ही क्राति कर सकेगी। क्योकि अन्तत तालीमी-सघ भी एक जड वस्तु है और मनुष्य की आत्मा है चेतन वस्तु। जिसे हम सघ कहते हैं वह जड है, व्यक्ति चेतन है।

विद्यालय द्वारा ग्राम-सेवा

हमारे स्कूल का शिक्षक सारे गाँव का सेवक भी होना चाहिए। गाँव की शाला सेवा का केन्द्र होगी। गाँव को औषधि देनी है, तो वह स्कूल की मार्फत दी जायगी और लडके उसमें मदद देंगे। गाँव में सफाई करनी है, तो शाला उसका केन्द्र बनेगी। और स्कूल के लडके तथा शिक्षक गाँववालो को मदद करेंगे। गाँव में अगर कोई झगडे होते हैं, तो उनका निर्णय करने के लिए भी लोग गाँव क शिक्षक के पास पहुँचेंगे। गाँव में कोई उत्सव करना है, तो उसकी योजना भी शाला करेगी। इस तरह गाँव का केन्द्रस्थान विद्यालय बनेगा। जो चीज गाँव में है, उसका विकास विद्यालय करेगा और जो चीज गाँव में नही है, उसकी स्थापना करेगा। कल हम खेती और बुनाई की चर्चा कर रहे थे। खेती

का महत्त्व है, क्योकि वह सारे देहात में चल रही है। बुनाई का महत्त्व है, क्योकि वह कही चल नही रही है। इसलिए विद्यालय के लोग खेती मे पडते हैं, तो उसका विकास करना है और बुनाई की स्थापना करनी है।

पैसे की माया में न पड़ें

खेती या बुनाई में से, अथवा बढई-काम मे से हमें कितना पैसा मिलेगा, यह सवाल गलत है। हमे समझना चाहिए कि बुनने में से हमे पैसा नही मिल सकता। उसमें से कपडा मिलेगा। खेती में से हमें पैसा नही मिलेगा, बल्कि अनाज मिलेगा। बढई-काम में से हमे पैसा नही मिलेगा, बल्कि मकान मिलेगा। इन चीजो की पैसे के साथ हम तुलना ही नही कर सकते। दूध की कीमत ज्यादा है और पानी की कम है, ऐसा लोग कहा करते हैं। लेकिन मै पूछूंगा कि "प्यास लगने पर क्या दूध से काम चलेगा?" बात ऐसी है कि परमेश्वर की सृष्टि मे जो चीज अत्यत महत्त्व की होती है, वह सबको आसानी से मिल जाय, ऐसी योजना है। इसलिए पैसे का खयाल छोडकर सारे जीवन को पूर्ण दृष्टि से देखना चाहिए।

नयी तालीम में से कठिनाइयों का हल

हमारे सब कामो का आधार शिक्षको पर है। इसलिए हिन्दुस्तान और दुनिया मे क्या चल रहा है, इसका उत्तम अभ्यास हमारे शिक्षको को होना चाहिए और जो-जो मुश्किले देश के सामने आती हैं, उनका हल शिक्षको के पास तैयार रहना चाहिए। कल यहाँ चर्चा चल रही थी कि क्या हिन्दुस्तान अपना

सारा अनाज खुद पैदा कर सकता है ? एक भाई ने कहा "इसका उत्तर तो जयरामदासजी भी नही दे सके, तो हमारे शिक्षक क्या देगे !" लेकिन मै कहता हूँ कि "जयरामदासजी भले ही एक दफा इसका उत्तर न दे सकें, लेकिन हमारे शिक्षको के पास इसका उत्तर होना चाहिए।" इसका कारण यह है कि जयरामदासजी को विश्वरूप-दर्शन है और विश्वरूप-दर्शन से तो अर्जुन भी घबरा गया था। लेकिन हमारा शिक्षक एक गाँव को सारी दुनिया समझेगा। इसलिए अगर उस गाँव का मसला वह हल करता है, तो सारी दुनिया का मसला हल हो सकता है, इसका दर्शन उसे होगा। वह जयरामदासजी को सलाह दे सकता है। वह कह सकता है कि हमारे गाँव में आकर देखिये, हमने अनाज का मसला कैसे हल किया है। ऐसे सब प्रयोग व्यापक दृष्टि से हमारे यहाँ चलने चाहिए और हमारे देश की कठिनाइयो का हल नयी तालीम मे से हमें मिलना चाहिए।

सत्य-निष्ठा निर्माण करें

अब एक बात और बतानेवाला हूँ, जो ऊपर की सब बातो से भी ज्यादा महत्व की है। वह है सत्य-निष्ठा। अपने स्कूलो मे सत्य-निष्ठा निर्माण करने का हमें अधिक-से-अधिक प्रयत्न करना चाहिए। लडको पर हमेशा विश्वास ही रखना चाहिए। लडका जो भी कहता है, सही है, ऐसा समझकर चलना चाहिए। जो सत्य-निष्ठ होता है, वह दूसरे पर हमेशा विश्वास रखता है।

तीस साल पहले की बात है। मै उस समय काशी मे था।

एक दूकान पर मै ताला खरीदने गया था। मेरी आदत है कि चीज लेनी न भी हो, तो भी उसके दाम पूछ लेना। इसलिए मै ताले की कीमत जानता था। दूकानवाले ने ताले की कीमत दस आने बतायी। मै जानता था कि उसकी कीमत तीन आने है। मैने दूकानवाले से कहा "इस ताले की कीमत तीन आने है, यह मैं जानता हूँ लेकिन तुम दस आने कहते हो, तो मै दस आने दे देता हूँ।" दस आने देकर मै ताला ले आया। उस दूकान पर से होकर मेरा घूमने का रास्ता था, अत मुझे रोज उस दूकान पर से गुजरना पडता था। दो-तीन हफ्तो के बाद उस दूकानवाले ने देखा कि मै दूकान पर से जा रहा हूँ और दूकान पर दूसरें ग्राहक नहीं है, तो उसने मुझे बुलाया। न मालूम उसे क्या लगा होगा। उसने कहा "ताले के दाम तीन आने थे। ये सात आने वापस ले जाइये।" मेरी आँखो में आँसू आ गये। मुझे ऐसी कोई अपेक्षा नही थी। मुझे लगा कि ईश्वर ने मुझे सत्य-निष्ठा का बोध दे दिया। लेकिन हो सकता है कि परमेश्वर हमेशा ऐसा नही करेगा। वह भक्त की ज्यादा कसौटी कर सकता है। इसलिए लोगो के दिल पर हमारी सत्य-निष्ठा का कोई असर न हो, फिर भी हमें सत्य-निष्ठ ही रहना चाहिए।

नयी तालीम प्रगति क्यों नहीं करती ? : ३० :

(हिन्दुस्तानी तालीम-सघ, शेरघाटी में शिक्षको से होनेवाली चर्चा)

विहार राज्य में वुनियादी शिक्षा का एक व्यापक और गभीर प्रयोग कितने ही वर्षों से चल रहा है। सारे देश की आँखे इस

प्रयोग की ओर लगी है। किन्तु जैसा काम होना चाहिए, वैसा नहीं दीखता। गांधीजी कहते थे कि नयी तालीम को स्वावलम्बी होना चाहिए। पर आज तो ऐसी शिकायत है कि नयी तालीम महगी हो रही है।

नयी तालीम के शिक्षक स्वावलबी नहीं

इसका कारण यह है कि हम मूल्य-परिवर्तन की बात तो करते है, पर आज की नयी तालीम में वह नही दिखाई देता। जिस तरह शिक्षा-विभाग मे दूसरी जगह वेतन का मान कम-ज्यादा है, वैसे ही नयी तालीम की सस्थाओ में भी। वही नौकरी की दृष्टि, आगे की वृद्धि का विचार आदि इसमें भी चलता है।

सरकार का अधूरा चिन्तन चलता है। पुराने ढग के स्कूल चाहे जितने खोलो, वे तो ग्रँट ट्रक रोड जैसे है और नयी तालीम के स्कूलो में कुछ खतरा है।

केवल ऊँचे पद से क्या होगा ?

शिक्षा-विभाग के एक अधिकारी ने बीच ही मे कहा "सरकारी-विभाग में उच्च अधिकारी का उत्तम होना जरूरी है।" आपने अपनी बात अच्छे ढग से रखी है। लेकिन इसमें अडचन यह है कि नयी तालीम की ट्रेनिंग पाया हुआ जो मनुष्य अपनेको अपने पैरो पर खडा रहने में असमर्थ पायेगा, वह आपके कहने के अनुसार ऊँचे पदो पर पहुचने पर भी बेकार साबित होगा। कोई स्वावलम्बी लोहार अगर प्रधानमत्री बन जाय, तो शायद वह अच्छा काम कर ले, किंतु जो नौकरी न मिलने के कारण लाचार रहेगा, वह ऊँचे पद पर बैठेगा, तो भी कुछ नही कर सकेगा। सरकारी व्यवस्था

उसे हजम कर लेगी, वह उस व्यवस्था को नही बदल सकेगा। जो सिपाही अपना काम ठीक तरह से नही निवाह सकता, उसे यदि लाकर शिवाजी की गद्दी पर बैठा दें, तो वह शिवाजी नही बन सकता।

नया ढाँचा आवश्यक

आज तालीम का ऊपरी ढाँचा तो पुराना ही है। असली बुनियादी तालीम की बुनियाद पर ही ऊपर का ढाँचा खडा होना चाहिए, किंतु आज वैसी बात नही है। इसलिए मै कहता हूँ कि निर्णायक पद या Key Position तो सरकार नही, मतदाता है। इसलिए आज के शिक्षक लोग जनता मे जाकर मतदाताओ का विचार बदलेगे, तो उनके हाथ मे निर्णायक शक्ति आ जायगी। फिर 'कुल सरकार कैसी बनानी है' यह बात भी उनके हाथ में होगी। इस तरह ये शिक्षक लोग खुद सरकार नही बनेंगे, बल्कि सरकार बनानेवाले होगे। वे नौकरी नही करेंगे, बल्कि नौकरी करनवालो पर नियत्रण रखेंगे। यह शक्ति नयी तालीम के शिक्षको में तब आयेगी, जब मूल्य-परिवर्तन अमल में आयेगा।

आज के शिक्षक

हमारी भूदान-यात्रा के दरमियान हम जहाँ-जहाँ बेसिक-स्कूल है, वहाँ जाकर वहाँ का काम देख लिया करते हैं। वहाँ मैं शिक्षको से सवाल पूछता हूँ कि "आपके लडके कहाँ पढते हैं?" तो वे जवाब देते हैं "गया या पटना जैसे शहर में।" जहाँ बाप, गुरु और अच्छी पद्धति—तीनो एकत्र है, वहाँ लडको को

अपने पास रखकर तालीम क्यो नही देते ? जाहिर है कि उन्हे नयी तालीम पर विश्वास नही है।

बेसिक स्कूल मे खादी पैदा होती है, पर वहाँ के लडको के बदन पर खादी दिखाई नही देती। यानी वहाँ जो पैदा होता है, वह पहना नही जाता। यह तो हॉटेल जैसी बात हुई, जहाँ पर दूसरो को खिलाने के लिए रसोई बनती है।

बुनियादी तालीम के शिक्षक की पत्नी अपने बच्चो को लेकर शहर मे रहती है। माँ बच्चो को इतना तो जरूर सिखाती है कि "बेटा, तू दुनिया में और चाहे जो करना, पर अपने बाप जैसा बेवकूफ मत बनना।"

फिर मै शिक्षको से पूछता हूँ कि "यहाँ पर कुछ उद्योग का भी काम होता है। मान लो कि आप तीन घटा मजदूरी करेगे और तीन घटा पढायेंगे, तो आप तीन घटो में जितनी मजदूरी कमायेंगे, उतना ही हम आपको अध्यापन के तीन घटो के लिए देगे। क्या यह आपको मजूर है ?" तो वे कहते हैं "नही" इसका मतलब यह है कि उन उद्योगो पर वे निर्भर नही रह सकते। हमे कताई, बुनाई आदि उद्योगो का स्तर ऊपर उठाना है। उसके लिए हमें अपना जीवन-स्तर नीचे लाना पडेगा। किंतु हम आज उसके लिए तैयार नही हैं। तो फिर लडको से क्यो कहते है कि उद्योग करो ?

फिर मै पूछता हूँ कि "आज आपको सरकार समान वेतन नही देती, तो भी आप समान वेतन क्यो नही कर लेते हो ? परिवार में तो ऐसा ही होता है।" लेकिन इस बात को भी वे कबूल नही करते।

इसका मतलब क्या है ? नयी तालीम का एक भी मूल्य आज नयी तालीम की शालाओ मे दीखता नही है, तो फिर उसका और क्या नतीजा होगा ?

आजकल तो यहाँ तक होता है कि सिर से लेकर पैर तक मिल के कपडे पहने हुए और घरो में विदेशी माल का प्रयोग करनेवाले लोग नयी तालीम के सम्मेलन में कार्यकर्ताओ को उपदेश देने की हिम्मत करते है। मै कोई व्यक्तिगत टीका नही कर रहा हूँ, पर पूछना चाहता हूँ कि "आपको यदि नयी तालीम का विचार मान्य है, तो फिर बच्चो की बनायी हुई खादी क्यो नही पहनते ?" आज नयी तालीम के ऐसे अधूरे और लगडे प्रयोग से नयी तालीम यशस्वी नही होगी।

मेरी शाला कैसी होगी ?

मै तो दूसरे ही ढग से काम करूँगा। किसी गाँव में जाकर एक घटेवाला स्कूल खोलूँगा। लडके दिनभर खेत में काम करेंगे। स्कूल पर एक पैसे का भी खर्चा नही आयेगा। फिर मै गाँववालो को प्रेरित करूँगा कि गाँव मे जरा-सी कपास बोये। जब गाँव-वाले कपास बोयेगे, तो फिर मै उन्हें समझाऊँगा कि बाँस का चरखा बनाओ। फिर वह चरखा किस तरह बनाया जा सकता है, यह सिखाऊँगा। इस तरह गाँव में चरखे का प्रवेश हो गया, तो वे ही चरखे स्कूल के लडको के लिए मुफ्त में मिल जायेगे। इस तरह या तो स्कूल में चरखे का उद्योग इस उम्मीद स दाखिल करो कि इसके जरिये गाँव में परिवर्तन करेंगे या गाँव के उद्योग शुरू करके फिर उन्हे स्कूल में दाखिल करो।

स्कूल में होनेवाली चीजें

स्कूल में जो पैदा होता है, उसका वही उपयोग कर लेना चाहिए। वहाँ पर जो तरकारी पैदा होती है, उसका उत्पादन की दृष्टि से हिसाब लगाने के बजाय उसे वहाँ के लड़को और शिक्षको में बाँट देना चाहिए। इसी तरह वहाँ जो खादी पैदा होगी, वह लड़को को देनी चाहिए। आपको सिर्फ इतना देखना है कि उत्पादन ठीक होता है या नहीं ? स्कूल की पैदा की हुई चीजें वही के छात्रो को दे देने मे कुछ खर्च बढेगा, लेकिन आरंभ में उसे बढने दो। आखिर सरकार पर तालीम पर कुछ खर्च करने की जिम्मेदारी है या नही ?

उत्तम पाठांतर

कुछ लोग समझते हैं कि बुनियादी पाठशाला में पढना-लिखना बिलकुल सिखाया ही नहीं जाता। मै तो अपने छात्रो को शुरू में ही उपनिषद् पढाऊँगा। 'सत्य वद, धर्म चर", यह सब सिखाऊँगा। मैंने सुना है कि सस्कृत की पुस्तको में टेबुल-कुरसी की और बाजार आदि की कहानियाँ होती है। यह सर्वथा निरर्थक है, बच्चो को पहले ही दिन मे उपनिषद् की कहानियाँ और उत्तम-उत्तम श्लोक कठ करना सिखाना चाहिए। कुछ लोगो का कहना है कि कठ करना गलत है। लेकिन 'रस्किन' को पाँच साल की उम्र में ही सारी बाइबिल कठ हो गयी थी और उसीसे उसका सारा जीवन बना है। लेकिन आज स्कूल में कौए और चिडियो की कहानियाँ कठ कराते है।

प्रसग के अनुसार पाठ

बच्चो को प्रसग के अनुसार पढाना चाहिए। यदि बच्चा आलस्य करे, तो उसे उत्साह का श्लोक सिखाना चाहिए। यदि वह डरता है, तो उसे निडरता का श्लोक सिखाना चाहिए। इस तरह मौके पर सिखाना चाहिए, बेमौके नही। मान लीजिये, एक लडका धीरे-धीरे कातता है, उसकी गति कम है, लेकिन उसका सूत टूटता नही और दूसरा जल्दी-जल्दी कातता है, पर उसका सूत बार-बार टूटता है। उस समय लडके को कछुआ और खरगोश की कहानी सिखानी चाहिए, जिससे उसे अखण्डता का ज्ञान हो जायगा।

प्रत्यक्ष ज्ञान

जो लोग पुस्तको के जरिये ज्ञान देना आसान समझते हैं, वे गलत समझते हैं। मिसाल लीजिये, बच्चो को गणित सिखाना है। दो और तीन मिलकर पाँच होते हैं, यह बात समझ में नही आती। हम तो कहते हैं कि दो और तीन मिलते ही नही, दो तो दो ही रहते हैं और तीन तीन ही रहते हैं। किंतु यह कहा जाय कि दो आम और तीन आम मिलकर पाँच आम होते हैं, तो यह बात समझने मे बिलकुल आसान है।

प्रत्यक्ष कार्य के जरिये ज्ञान देना बहुत कठिन है, ऐसा लोग कहते हैं, पर आज जिस पद्धति से ज्ञान दिया जा रहा है, वह कितनी कठिन है ? सृष्टि और मनुष्य के बीच परदा खडा करके यह ज्ञान दिया जाता है। "अश्व" याने घोडा (Horse) बताया जाता है। लेकिन घोडा यदि नही देखा, तो क्या समझ में आयेगा ? आप

बच्चो को पदार्थ नही बताते, सिर्फ पर्याय पद बताते हैं। जो सिर्फ पद ही देखते हैं, उनका ज्ञान भ्रान्त ज्ञान होता है।

किताबो द्वारा अठारह-बीस साल सीखकर आप प्रवीण बनते हैं, तो आपको लगता है कि यह तरीका आसान है। किन्तु वह आसान नही है। नयी तालीम किताबो का बहिष्कार नही करती, बल्कि वह उनका ठीक और समुचित उपयोग करती है। कोई बीमार पडता है, तो उसका कारण जानने की हमारी इच्छा रहती है। बीमारी को हम ज्ञान का साधन मानते हैं। इस तरह कोई मरता है, कोई जन्म लेता है, कोई बीमार होता है, कोई अच्छा होता है, तो ये सारे ज्ञान के साधन बन जाते हैं। जिसके लिए चारो ओर ज्ञान-ही-ज्ञान भरा पडा है, उसके लिए अज्ञान कहाँ रहेगा? इस तरह रसोई बनाना, तरकारी काटना आदि कामो के द्वारा भी ज्ञान दिया जा सकता है। तरकारी काटने के समय किस तरह बैठना, किस तरह आसन लगाना, इसका ज्ञान दिया जायगा। फिर रसोई बनाते समय चूल्हा कैसा बनाया जाय, जिससे लकडी कम जले और धुआँ पैदा न हो, इसका ज्ञान दिया जा सकता है। कितने समय तक खाना, क्या खाना, इसका भी ज्ञान खाते समय दिया जा सकता है। इस तरह हर बात में ज्ञान भरा पडा है। लेकिन ज्ञान के जो इतने जरिये थे, वे तो आज के स्कूलो में बद हैं। परन्तु इस पद्धति के लिए ट्रेनिंग की जरूरत नही, ऐसा नही कहा जा सकता। जब आज के तरीके मे बी० ए० होने के बाद बी० टी० की जरूरत पडती है, तो फिर इस तरीके मे भी ट्रेनिंग की जरूरत है, पर वह खेतो में प्रत्यक्ष उद्योग करते हुए मिल सकती है।

बिना गुरुपत्नी के गुरुकुल कैसा ?

नयी तालीम के ट्रेनिंग केन्द्र मे मैने देखा कि शिक्षको के साथ उनकी पत्नी नही रहती। लेकिन गुरुपत्नी के विना कैसे चलेगा ? उसे भी ट्रेनिंग देनी चाहिए और उसके बाद पति के साथ काम करना चाहिए। उपनिपद् मे एक कहानी है 'उपकोशल' नाम का लडका गुरु के घर रहता था। एक दिन उसने खाना नही खाया। वह गुरु से डरता था, इसलिए गुरु के पास जाकर कुछ कहने की उसमे हिम्मत नही थी। तब गुरुपत्नी ने उससे पूछा कि "तुमने खाना क्यो नही खाया ?" तो लडके ने जवाब दिया "आदमी को अलग-अलग वासनाएँ रहती है। जब उनकी पूर्ति नही होती, तब उसे भोजन की इ छा नही होती।" तब उसके बाद गुरुपत्नी ने गुरु से कहा कि "उस लडक को कुछ ज्ञान की इच्छा है। इसलिए उसे ज्ञान दो।" इस तरह गुरुपत्नी, गुरु के पास पहुँचानेवाला एक वसीला है। इसलिए शिक्षको के साथ पत्नी का रहना बहुत जरूरी है। मै तो कहता हूँ कि गुरुपत्नी को भी तनख्वाह दो, वह भी लडको को पढ येगी। रसोई के जरिये अच्छा ज्ञान दिया जाता है। आज आप शिक्षक को १००) तनख्वाह देते हैं, तो उसके बजाय उसे ८०) दीजिये और उसकी पत्नी को ४०) दीजिये।

आजकल नयी तालीम का विरोध इसलिए हो रहा है कि नयी तालीम के स्कूल गाँव मे ही खोले जाते हैं। इससे ग्रामीणो को लगता है कि यह तालीम हमारे लिए 'सरकार की विशेष कृपा' है। मद्रास में राजाजी की शिक्षा-योजना का जो विरोध

हुआ, उसका कारण भी यही था कि वह देहातो के लिए लागू की गयी थी, शहरो के लिए नही। उधर तो ब्राह्मण और ब्राह्मणेतरो का झगडा चल रहा है। शहर में अक्सर ब्राह्मण लोग रहते है, उन्हे भिन्न प्रकार की विद्या प्राप्त होती है। तो वहाँ के ब्राह्मणेतरो ने सहज ही कहा कि "ब्राह्मणो को अच्छी तालीम मिल रही है और हमें इस नयी तालीम के जरिये अपढ ही रखा जाता है।"

विषमता दूर करें

अगर हम कहें कि ऊपर से सारी विषमता हट जायगी, तब नयी तालीम सफल होगी, तो नयी तालीम की बुनियाद ही कटेगी। हम तो नयी तालीम से ही विषमता को काटेंगे। सरकार विषमता दूर नही कर सकती। समाज में यह जो विषमता है उसका प्रतिबिंब सरकार में दिखाई देता है। तो जब समाज बदलेगा और उसमें समता स्थापित होगी, तब सरकार को भी उसके अनुसार बदलना पडेगा। मै चाहता हू कि आपके शिक्षा-विभाग के लोगो के हाथो में क्रांति का झडा हो। हमें शिक्षको की एक सेना खड़ी करनी है और फिर जैसे सेना के आधार पर सेनापति रक्तहीन बगावत (Coup-de-etat) करते हैं और उसके सामने वहाँ की संसद् की भी कुछ नही चलती, उसी तरह हमें भी करना है। लेकिन अहिंसा के तरीके से हमें "Non-Voilent-Coup-de-etat" करना है। यह करने की शक्ति इन शिक्षको में है। शिक्षा-विभाग अपने शिक्षको में ऐसा भाव पैदा करे, तो उनके जरिये क्रांति (Coup) हो सकती है।

नयी तालीम का जीवन-दर्शन : २१ :

१९३७ में याने स्वराज्य-प्राप्ति के दस साल पहले, बापू ने नयी तालीम की कल्पना देश के सामने रखी। स्वराज्य के माने परकीय (विदेशी) सत्ता यहाँ से हट जाय, इतना ही बापू नही कहते थे, बल्कि एक नया समाज बने, जिसमे शोषण न हो, जिसमें केंद्रित शासन कम-से-कम हो, जिसमे हरएक के विकास के लिए पूरी सहूलियत हो, ऐसी समाज-व्यवस्था को वे "स्वराज्य" नाम देते थे। स्वराज्य याने ऐसा राज्य, जिसमें हरएक को महसूस हो कि यह मेरा राज्य है। इसीको वे "राम-राज्य" भी कहते थ।

नयी और पुरानी तालीम का भेद

नयी तालीम याने नये मूल्यो की स्थापना। पुरानी तालीम चोरी करने को पाप समझती थी। नयी तालीम न सिर्फ चोरी को, बल्कि अधिक सग्रह को भी पाप समझती है। पुरानी तालीम शारीरिक और मानसिक परिश्रमो के मूल्यो मे फर्क करती थी । नयी तालीम दोनो का मूल्य समान समझती है। इतना ही नही, दोनो का समन्वय करती है, दोनो का 'समवाय' साधती है। पुरानी तालीम 'क्षमता' की इज्जत करती थी। नयी तालीम "क्षमता" को "समता" की दासी समझती है। पुरानी तालीम लक्ष्मी, शक्ति, सरस्वती को स्वतत्र देवता-रूप में पूजती थी। नयी तालीम मानवता को पूजती है और इन तीनो को उनकी सेवा का साधन समझती है।

सेवा और सत्ता

स्वराज्य का हमारा अर्थ केवल सत्ता बदलना नहीं, बल्कि सत्ता हटाकर उसकी जगह सेवा स्थापित करना था। अब कुछ लोगो ने दोनो में मेल-जोल करने की बात निकाली है। नेता कहते हैं "सेवा के लिए सत्ता" हमारा ध्येय है। अनुयायी समझते हैं "सत्ता के लिए सेवा", ऐसा दीखता है। नेताओ की भाषा का अनुयायियो की भाषा में इस तरह तरजुमा होता है। नतीजा यह है कि आज देश के सब राजनीतिक पक्षो में सत्ता का बोलबाला है और सेवा "भारत-सेवक-समाज" को समर्पित है।

नयी तालीम का 'वानरीकरण'

आज नयी तालीम का जो गुण-ग्रहण हुआ और हो रहा है, वह इतना एकागी है कि उस आधार पर उसका स्वीकार किया जाना खतरे से खाली नही है और यह मैं बरसो से देखता आ रहा हूँ। आज नयी तालीम का जो व्यापक प्रयोग हो रहा है, वह बहुत सारा विभिन्न प्रान्तीय सरकारो के द्वारा हो रहा है। परिणाम यह है कि सर्वत्र 'नयी तालीम' का 'वानरीकरण' हो रहा है। नयी तालीम के पीछे एक जीवन-दर्शन है। उसे ग्रहण किये बगैर जब उसका एकागी आकलन और विकृत अनुकरण होता है, तब उससे नयी तालीम बदनाम होने के सिवा और कोई निष्पत्ति की आशा नही कर सकते। और आज यही तो हो रहा है। भिन्न-भिन्न राज्यो में जो नयी तालीम के सरकारी प्रयोग हुए, उन सबमे शायद बिहार के प्रयोग अधिक प्रामाणिक माने जायँगे। लेकिन उनकी भी जो दशा मैंने देखी, उससे भय हो

रहा है कि शायद नयी तालीम के लिए कब्रिस्तान खोदा जा रहा है।

एकीकरण का बापू का स्वप्न

लेकिन इस विकृति की जिम्मेवारी उन लोगो पर है, जिन्होंने नयी तालीम को सरकार का आश्रित बनने दिया। होना तो यह चाहिए था कि हम नयी तालीम के शुद्ध नमूने जगह-जगह खडे करते। लेकिन यह इसलिए नही हो सका कि हमने अपने बहुत सारे सघ अलग-अलग चलाये। गाधीजी के ध्यान मे यह बात आयी थी और सब सघो को एक करने का उनका विचार भी था। लेकिन उनके भक्तजनो को वह विचार अभी तक पूरा ग्रहण नही हो सका है। अब, जब कि चरखा-सघ ने सर्व-सेवा-सघ मे विलीन होने की हिम्मत दिखायी, तब इसके लिए राह खुल गयी है। अगर नयी तालीम को अपना तेजस्वी और परिशुद्ध रूप दिखाना है, तो तालीमी-सघ और सर्व-सेवा सघ को एकरूप होना पडेगा। यह जब तक नही होता, तब तक सर्व-सेवा-सघ और तालीमी-सघ, दोनो निर्जीव रहेगे। धड और सिर अलग करने से जो दशा शरीर की होती है, वैसी ही दशा होगी।

चितनीय प्रश्न

स्वराज्य-प्राप्ति के बाद नयी तालीम का एकागी गुण-ग्रहण ही क्यो न हो, करने की बात नेताओ को सूझी है, छह साल बीतने पर। इसका मुझे जितना आश्चर्य है, उससे कही अधिक आश्चर्य इस बात का है कि समग्रता की निरतर चर्चा करते

रहने पर भी हम लोगो को समग्रता सूझ नही रही है। सर्वोदयवाले काग्रेस के पदाधिकारी वन सकते हैं, असेवली के सदस्य वन सकते हैं, राज्यो के मत्री वन सकते है, विरोधी राजनैतिक पक्ष भी सघटित कर सकते हैं, लेकिन अपनी एकता नही वना सकते। यह घटना चितनीय है।

एकरूपता आवश्यक

सरकारी अफसरो के जरिये अभी तक जो प्रयोग किये गये हैं, उनके दो प्रकार है एक प्रकार तो जान-वूझकर वुनियादी तालीम को वदनाम करने के उद्देश्य से रहा, ताकि वह खर्चीली सावित हो, ज्ञान की कमी उसमें दीखे, पालको की नाराजी प्राप्त की जा सके, विद्यार्थी भी असतुष्ट हो जाय। स्पष्ट है कि यह एक अच्छी वस्तु का अप्रामाणिक व्यवहार है। इसका विचार हम छोड दें। दूसरा प्रकार है, प्रामाणिक। लेकिन उसमे नये मूल्यो को स्वीकार न करते हुए पुराने मूल्यो को कायम रखकर नयी तालीम को उसके कुछ गुणो के लिए स्वीकार करने की वात है। यह प्रकार प्रामाणिक है, फिर भी नयी तालीम का असली रूप उसमें नही दीखेगा। इसलिए यह वहुत जरूरी है कि नये मूल्यो की वुनियाद पर जितने परिशुद्ध प्रयोग किये जा सकते हैं, किये जायँ। इसके लिए ऐसी तरकीव निकालनी होगी, जिससे नयी तालीम, सर्व-सेवा-सघ और भू-दान-यज्ञ—तीनो की एकरूपता सध जाय।

सरकार-निरपेक्ष प्रयोग

जब देश गुलाम था, तो राष्ट्रीय शिक्षण का विचार निकला और स्वतत्र विद्यापीठ भी खुले। अब लोग सोचते हैं कि जब स्वराज्य आ गया, तो सारे सरकारी विद्यापीठ राष्ट्रीय विद्यापीठ बन गये। लेकिन 'हो गये' कहने से तो नही हो जाते। उन्हे राष्ट्रीय बनाना पडेगा। मै आशा करता हूँ कि वैसे बनाये जायँगे, फिर भी सरकार से पृथक् शिक्षण के स्वतत्र प्रयोग करने की आवश्यकता बनी ही रहेगी। गाँव-गाँव में वहाँ की परिस्थिति के अनुसार लोगो की तरफ से अपनी-अपनी अलग शालाएँ चलनी चाहिए। नही तो, अगर देश की सारी शिक्षा सरकारी तत्र मे आ गयी, तो बच्चो के दिमाग विशिष्ट स चे में ढाले जाने का खतरा बना रहेगा। इस दृष्टि से भी नयी तालीम के सरकार-निरपेक्ष प्रयोग चलने चाहिए, यह हमारे लिए सोचने का विषय है।

—'सर्वोदय', दिसम्बर १९५३

नयी तालीम की जिम्मेदारी : ३२ :

नयी तालीम के सामने आज बहुत बडी समस्याएँ उपस्थित हैं। 'भूदान-यज्ञ-मूलक, ग्रामोद्योग-प्रधान अहिंसक क्राति' का जो विशाल और गहरा कार्य भगवान् ने हम लोगो के जरिये करवाना चाहा है, उसके कारण हमारे कुल रचनात्मक कार्य के, अर्थात् नयी तालीम के भी स्वरूप में फर्क पड जाता है। अगर नयी तालीम अपने को उसके अनुकूल नही बना सकी, तो

वह 'नयी तालीम' नही रहेगी, पुरानी हो जायगी। इसलिए नयी तालीम को अब नित्य-नयी तालीम बनाना होगा।

पाँच करोड एकड जमीन की प्राप्ति, उसका बँटवारा और उसके बाद का रचनात्मक काम, नयी तालीम की मदद के बिना सिद्ध नही हो सकेगा और उस कार्य को सिद्ध किये बिना नयी तालीम टिक न सकेगी।

भूमि-प्राप्ति के लिए विचारवान्, विनयशील, कार्यदक्ष, निष्ठावान् सेवको की जरूरत है। ऐसे सेवको का निर्माण कौन करेगा? बँटवारे के काम के लिए विशिष्ट शिक्षण की जरूरत होगी, यह शिक्षण कौन देगा? जीवन-दानी सेवको को और उनके परिवारो को समग्र जीवन की शिक्षा कहाँ से मिलेगी? पूरे-के-पूरे गाँव दान में मिल रहे है और आगे भी मिलेंगे, उन गाँवो को सर्वोदय की दीक्षा कौन देगा? सर्वोदय का विचार ठीक ढग से हर देहात और हर घर में पहुँचाने की जिम्मेवारी कौन उठायेगा? इन सब प्रश्नो के उत्तर में नयी तालीम अनिवार्य रूप से जुडी हुई है।

इन दिनो सरकार भी नयी तालीम के बारे में गभीरता से सोच रही है। उसे उचित मार्गदर्शन कराने की जिम्मेवारी हमें उठानी होगी और इस बात के लिए भी हमें देश को तैयार करना होगा कि सर्वोदय-समाज के शासनमुक्ति के ध्येय के अनुसार देश का शिक्षण भी अधिक-से-अधिक शासनमुक्त रहे। शासनसत्ता के रहते भी शासनमुक्ति शिक्षण का स्वयसिद्ध अधिकार माना जाना चाहिए।

सम्मेलन के लिए आना मेरे लिए मुमकिन नही है, यह तो

हमारे सब लोग जानते हैं। पर नयी तालीम के सेवको में मैं अपनी गिनती करता हूँ और मेरा दावा है कि मैं सतत नयी तालीम का काम करता आया हूँ और आज तो मैं वह विशेष तीव्र रूप से कर रहा हूँ।

मैं सम्मेलन का सुयश चाहता और आशा करता हूँ कि वह सब सेवको को प्रेरणादायी होगा।

—नवम्बर १९५४ में सणोसरा में होनेवाले
नयी तालीम-सम्मेलन को भेजा गया सदेश

नयी तालीम और जन-संपर्क : २२ :

(जगन्नाथ पुरी-सम्मेलन में तालीमी-सघ की बैठक में
किया गया भाषण)

बलरामपुर में नयी तालीम का एक केन्द्र है। वहाँ कस्तूरबा का भी केन्द्र है। बगाल की पद-यात्रा मे वहाँ हमें दो दिन ठहरने का मौका मिला था। वहाँ हम एक पासवाले गाँव में घूमने गये। सुबह ५ बजे का समय था। गाँव की बहुत सारी बहनें दीपक लेकर स्वागत करने आयी थीं।

जन-सम्पर्क का अभाव

हमने उस गाँववालो से दरयाफ्त किया, तो पता चला कि भूदान के विषय में उन्हे कुछ भी मालूम है नही। जब हमने पूछा कि 'यहाँ बेजमीनवाले कितने लोग हैं?' तो जवाब मिला 'बहुत सारे बेजमीन हैं और जो जमीनवाले हैं, वे ज्यादातर

बाहर रहते हैं।' जब हमने पूछा कि 'उन मालिकों के पास कभी कोई जमीन माँगने गया था?' तो उत्तर मिला 'नहीं।' तो मेरे मन में विचार आया कि जहाँ हमारी दो-दो संस्थाएँ काम कर रही है, उसके बिलकुल नजदीक के गाँव में इतना घना अन्धकार क्यों है? गाँव में कुछ भी काम नहीं हुआ है, तो गाँव-वालों से क्या कहा जाय? दोनों संस्थाओं के व्यक्ति वहाँ मौजूद थे। मैंने कहा हमारी संस्थाए इस तरह अपनी ही संस्था के काम में कैद रहती हैं और आसपास की जनता के पास तक नहीं पहुँचती, तो उनका मूल उद्देश्य ही समाप्त हो जाता है। इसलिए संस्था के संचालन में क्या कमी है, इसका संशोधन होना चाहिए।

बहुत वर्षों के निरीक्षण के बाद मुझे ऐसा दीखता है कि जहाँ १००-१५० कार्यकर्ता एक स्थान पर रहते हैं, वहाँ इतने काम खडे हो जाते हैं कि उनके अलावा और कोई दूसरा काम करने के लिए समय ही नहीं बचता। इसके सिवा इतना बडा समाज अर्थ-निरपेक्ष भी नहीं रहता। उसका आधार पैसा होता है। अगर वह आधार हम तोडते हैं, तो फिर उस मण्डली का आस-पास के लोगों के साथ संपर्क रखना जरूरी हो जाता है और फिर उससे मिथ्या-योग का आचरण नहीं होता।

जिस योग का आधार पैसे पर है, उसे मैंने 'मिथ्या-योग' नाम दिया है। वह न ध्यान-योग है, न कर्म-योग और न ज्ञान-योग ही। ऐसे स्थान पर जितना हम करते हैं, वह केवल दिखावटी-सा होता है, हृदय को स्पर्श नहीं करता। वह नाटक जैसा हो जाता है। नाटक देखकर हम पर जो असर पडता है, उसका भी

वैसा ही हाल होता है। योगयुक्त जीवन का जो असर होना चाहिए, वह इस प्रकार के नाटक का नही होता। इसलिए हम लोग सोचें कि हमने जहाँ सस्थाएँ बनायी हैं, वहाँ १५-२० से ज्यादा सख्या में लोग एकत्र न हो। पर पैसे का आधार छोडकर यदि ज्यादा सख्या मे लोग एकत्र रहें, तो मुझे कोई आपत्ति नही। उल्टे मैं ऐसा मानता हूँ कि ऐसा समाज तो निश्चय ही क्रान्ति उत्पन्न कर सकता है।

नयी तालीम का लक्ष्य

बडे समाज मे मुझे एक दोष और भी दिखाई देता है। बडा समाज रखने से बडा इन्तजाम भी करना पडता है और फिर वह भी अच्छे ढग का होना चाहिए। ऐसी उत्तम व्यवस्था का लाभ हमारी नयी तालीम के बच्चो को भी मिलता है। पर ऐसी उत्तम व्यवस्था में तालीम पाने के बाद जब ये विद्यार्थी बाहर की दुनिया में प्रवेश करते हैं, तो इनकी स्थिति बडी विचित्र हो जाती है। सस्था की तरह तो बाहर उत्तम व्यवस्था होती नही। तब ये लडके चकरा उठते हैं। इसलिए नयी तालीम के विद्यालय की व्यवस्था हमें योजना बनाकर ऐसी करनी चाहिए कि लडके हर मुसीबत का डटकर सामना कर सकें और उनमे से उनका जीवन बने।

हम लोगो ने अभी तक नयी तालीम की पाठशाला के जो प्रयोग किये, उन्हें देखकर हमे ऐसा लगता है कि हमारा काम करने का तरीका अच्छा है, किन्तु इसमें उत्तम परिस्थिति का जितना विचार हमें करना चाहिए, उतना हम नही करते।

जैसे कोई 'राजकुमार-कॉलेज' चलता है, वैसे ही हमारी शाला भी चलती है। माना, राजकुमार-कॉलेज के जैसा हमारा काम भोग-विलासी नही होता, इसलिए यहाँ उसकी मिसाल ठीक-ठीक लागू नहीं होती। किन्तु इतनी वात तो दोनो मे समान है ही कि आसपास के लोगो के साथ किसीका सम्पर्क नही रहता। इसलिए हमारी व्यवस्था में लचीलापन आवश्यक है। भिन्न-भिन्न स्थानो पर, भिन्न-भिन्न तरह से अनेक प्रयोग चलें, यह जरूरी है। हमने एक घण्टेवाली स्कूल की जो वात चलायी है, उसका भी अनुभव करना चाहिए।

गाँवों में तालीम चालू है

कुछ लोग कहते हैं कि नयी तालीम के स्कूल का खर्च इतना ज्यादा होता है कि वह करीव-करीव प्रतिवन्धक ढग का हो जाता है। आज की सरकार की हालत ऐसी है कि वह ऐसा खर्चीला शिक्षण चला नहीं सकती। जो लोग नयी तालीम का स्कूल पसन्द नही करते, वे ही ऐसी टीका किया करते हैं। वस्तुत. नयी तालीम महँगी नही है। इतना ही नही, वह पैसे से मुक्ति पाने की भी चेष्टा में लगी है। अभी तक वह काम पूर्ण नही हुआ, इसलिए अभी कुछ खर्च होता है।

मैंने अपने लेख मे एक सुझाव दिया था कि हर गाँव स्वावलवी है। वहाँ सभी लोग अपना-अपना उद्योग कर रहे हैं। गाँवो में कुछ-न-कुछ उत्पादन होता ही है। घर-घर में भोजन चलता ही है। गाँव का एक सम्पूर्ण जीवन चालू है। गाँव को वाहर से कुछ मदद नही पहुँचायी जाती। वहाँ का जीवन ही ऐसा है कि वहाँ

पुरुषार्थ करना ही पडता है। नयी तालीम के लिए ऐसा क्षेत्र बहुत अच्छा है। देहात का जीवन पराश्रित या कृत्रिम नही है। पेट में भूख है, इसलिए काम करना पडता है और बुद्धि है, इसलिए युक्ति सूझती है। गाँव के लोग तो अपने आचरण द्वारा नयी तालीम चला ही रहे है। उन्हे सुसस्कारो की थोडी-सी पुटमात्र देनी है। उसके अलावा शिक्षा का हमारा जो अहकार है, उसे हम छोड दें और गाँव मे चले जायँ। हम नही सिखायेंगे, तो लोग अशिक्षित नही रहेगे।

गाँव-गाँव में उद्योग चल रहे है। नयी तालीम के शिक्षक भी विद्यार्थियो के साथ उनमे शामिल हो और उनके द्वारा लोगो को भी सिखाये।

कौड़ी का भी खर्च नहीं

गाँव मे जो उद्योग चलता है, उससे असम्बद्ध ज्ञान उन्हे न दें, सम्बद्ध ज्ञान ही दे, तो बात खतम हुई। गाँवो में चरखा नही चलता है, तो शिक्षको पर यह जिम्मेवारी क्यो होनी चाहिए कि चरखा गाँव पर लादे और उस चरखे को तालीम का माध्यम बनाये? मै किसी गाँव मे जाऊँ, तो मुझे एक कौडी की भी जरूरत नही पडेगी। मै लोगो से कहूँगा कि मेरे पास ज्ञान है और आपके पास अज्ञान। बस, मेरा काम बन गया। अगर आपके पास अज्ञान नही होता, तो भी बात नही बनती और मेरे पास ज्ञान नही होता, तो भी बात नही बनती। इसलिए आपके पास अज्ञान है और मेरे पास ज्ञान, तो अब बात बनेगी। वे खेती करते होगे, तो मै खेती करूँगा। वे गाय की सेवा करते होगे, तो मै गाय की

सेवा करूँगा। मैं गोसेवा के साथ-साथ उन्हें उपनिषद् भी सिखाऊँगा। नयी तालीम के लिए पुस्तकें अनिवार्य नहीं। मिली, तो ठीक, नहीं मिली, तो भी ठीक। आपके स्कूलों में कम-से-कम ब्लॅकबोर्ड (श्यामपट्ट) चाहिए, खड़िया चाहिए, किताब चाहिए। लेकिन नयी तालीम में कुछ भी नहीं चाहिए। भगवान् ने मुझे मुँह दिया है, लोगों को सुनने के लिए कान दिये हैं और दोनों को बैठने की जगह दी है, तो स्कूल के लिए और क्या चाहिए? सिर्फ अच्छे शिक्षक चाहिए, तो वे ग्राम-जीवन के साथ सम्बन्ध रखकर तालीम देंगे।

सबको समान वेतन

'बेसिक तालीम चलानी है' ऐसा सरकार ने तय किया है। कांग्रेस ने तय किया है, तो सरकार ने ही तय किया है। तो अब वह तालीम चलेगी, पर उसके लिए मूल उद्योग का जरिया आदि एक प्रकार का तन्त्र है। वह काफी है या उसके लिए कोई मन्त्र भी चाहिए? अगर वह मन्त्र नहीं है और सिर्फ बाहर का तन्त्र ही रहा, तो केवल तन्त्र से क्या होगा? मन्त्र यह है कि नयी तालीम शरीर-परिश्रमनिष्ठ और साम्ययोगी होती है। अब वहाँ यह नहीं चलेगा कि शिक्षकों की योग्यता में फर्क है, इसलिए तनख्वाहों में भी फर्क हो। किसीको चालीस रुपये मिलें, किसीको अस्सी, तो किसीको सौ। ऐसी जो विभिन्न श्रेणियाँ बनायी जाती हैं, शिक्षण-विभाग में दर्जे का ऐसा जो इन्तजाम हो, वह यहाँ चलनेवाला नहीं। नयी तालीम में यह जरूरी है कि सब शिक्षकों को समान वेतन मिले। इसमें से पैसा

बचाने की बात नही कर रहा हूँ। हो सकता है कि सबको समान वेतन देने के लिए अधिक भी खर्च करना पडे। मै कोई आर्थिक कटौती की योजना नही बना रहा हूँ, वरन् साम्ययोग की योजना बना रहा हूँ। उसके बिना नयी तालीम आगे नही बढेगी।

नयी तालीम में हम शारीरिक और बौद्धिक कामो के मूल्यो में कोई अन्तर नहीं मानते। हम मानते हैं कि नेतृत्व, व्यवस्था आदि में भी वेतन का अन्तर नही होना चाहिए। शिक्षक, मिनिस्टर आदि जो नेता है, उन सबके वेतन मे साम्य होना चाहिए। नही तो, विद्यार्थियो के मन में नयी तालीम के प्रति श्रद्धा और भक्ति कैसे पैदा होगी ? सच पूछिये तो 'वेतन' शब्द ही गलत है, उसके लिए तो 'दक्षिणा' कहना ही ठीक होगा।

सबसे बड़ा पाप 'असत्य'

हमारे समाज के जो नैतिक मूल्य है, उनमें हमें परिवर्तन करना होगा। समाज मे यह कल्पना दृढ होनी चाहिए कि सब दुर्गुणो मे सबसे अधिक हेय दुर्गुण कोई है, तो वह है 'असत्य'। बाकी सारे दुर्गुण तो दोष है या बीमारियाँ हैं। भारतीय सस्कृत में स्वर्ण की चोरी को महापातक कहा गया है। इसी तरह 'मदिरा-पान' और 'ब्राह्मण-हत्या' को भी महापातक माना गया है। परन्तु इनसे भी बडा पाप है, असत्य। कारण असत्य से ही मनुष्य में दोष छिपाने की प्रवृत्ति पैदा होती है। किसीने इतना ज्यादा खा लिया कि अजीर्ण हो गया और उसके फलस्वरूप वह मर गया, तो उस मनुष्य के प्रति घृणा

नही, दया पैदा होती है। इसी तरह जो दूसरे नैतिक दोष हैं, वे घृणास्पद नही, दयास्पद हैं, ऐसा यदि समाज मान ले, तो छिपाने की वृत्ति समाज से जाती रहेगी। पर यह छिपाने की वृत्ति मिटेगी कैसे ? इसके लिए समाज मे ऐसी धारणा बननी चाहिए कि असत्य ही सबसे बडा दुर्गुण ह।

परिश्रमालय द्वारा शिक्षण : ३४ :

नयी तालीम में हमने एकाध जीवनोपयोगी दस्तकारी को मुख्य स्थान दिया है और उससे शिक्षा का लाभ हम उठाना चाहते हैं। मैंने बहुत जगह अभी इसके प्रयोग देखे है। मुझे कहना होगा कि मुझे उससे विशेष समाधान नही हो पाया। इसमे प्रयोग करनेवालो का उतना दोष नही मान सकते। आखिर जो हो, है तो नयी चीज ही। जिसे जैसा सूझता है, करता है। कही कोई प्रतिभाशाली व्यक्ति काम करता है, तो उसे विशेष सूझता है। वह सशोधन कर लेता है। नवविचार की प्रगति ऐसी ही होती है।

शिक्षा का नया ढंग

बिल्कुल छोटे बच्चो की तालीम की बात मै छोड देता हूँ। बढी हुई उम्र के लडको को तालीम देने का एक दूसरा ही तरीका मेरे मन में आ रहा है। मै ऐसो को 'तालीम देने' का नाम न लेकर उन्हे रोजी दिलाने का ही काम क्यो न करूँ ? ऐसे लडके जिस रोज से मेरे पास आयेंगे, उसी रोज से मै उन्हे मजदूरी देना

शुरू कर दूंगा। मेरा दावा यही रहेगा कि मैं बेकारो को काम दूँ। लेकिन काम मे मे एकाध घण्टा निकालकर उनके जीवन और इर्द-गिर्द की हालत के बारे मे जो कुछ सूझेगा, मैं उन्हे बताता रहूँगा। उनके काम की प्रगति कैसे हो, इसकी फिक्र करूँगा। उनके आरोग्य की तरफ ध्यान दूंगा। कहा तो यही जायगा कि 'मैंने एक कारखाना खोला', लेकिन शायद इस ढग से नयी तालीम का मैं बेहतर प्रचार कर सकूँगा, बनिस्बत उसके, जो आज चल रहा हैं।

परिश्रमालय में नयी तालीम

यह मै कल्पना से नही कह रहा हूँ। पवनार मे मैंने जो काम किया, उसमे १४-१५ साल से लेकर १८ साल तक के लडके ८ घण्टे काम करके रोजी कमाते थे। कताई का मानो कारखाना ही वहाँ चलता था। मैं उन लोगो में १-२ घण्टे जाकर बैठता था। पहले मैं यही सोचता था कि उनकी रोजी कैसे बढे। लडके दाय हाथ से कातते थे। तीन माह तक बायें हाथ का प्रयोग चलाया। फिर दोनो हाथ अदल-बदलकर काम किया गया।

उनकी सूत की गुडियाँ समान अक की नही होती थी, कुछ मोटी, तो कुछ महीन होती थी। कार्यालय के लोग मजदूरी देते समय मोटी-से-मोटी गुडी का नबर देखते थे और उसके नम्बर को सारे सूत का नम्बर मानकर दाम आँकते थे। इससे उनका कितनी गुडियो का नुकसान होता था, इसका गणित सिखाया। तार गिनने में ६४० तार की गुडी में उनके ४०-५० तार कम आते थे। ठीक से गिनना उन्हें सिखाया। उनमें अनिय-

मितता थी। कातते हुए वीच मे गप्प मारने की आदत थी। इससे उनकी कार्यशक्ति का कैसे क्षय होता है, इसका सप्रयोग दर्शन करवाया। कुछ देर मौन रहकर काम करने की प्रेरणा दी, तो काम वढा, मजदूरी वढी। फिर ८ घण्टे के वजाय ७ घण्टे काम लेकर १ घण्टा दूसरी चर्चा में वीतने लगा। इसके वाद नदी में तैरने, खेलने, घूमने, गीता के श्लोक कठ करने तथा त्योहारो आदि की छुट्टियो के निमित्त तत्सवधी ज्ञान देने का कार्यक्रम चला। इस तरह वे मजदूरी ज्यादा कमाने लगे और कई तरह का शिक्षण पाने लगे। पहले वे लडके थे, अव जिम्मेदार नागरिक वन गये है। सूत कातकर अपना कपडा वना लेते हैं। ग्राम-पचायत का जिम्मेवारी से काम करते है। पवनार के सार्व-जनिक काम में हिस्सा लेते है। अव ग्राम-सफाई करने की वात सोच रहे हैं। यह सारा उस परिश्रमालय से हुआ। परिश्रमालय ज्यादा दिन नही चला, क्योकि मुझे जेल जाना पडा। फिर वह वद हो गया। अगर वह जारी रहता, तो नयी तालीम का वह एक सफल प्रयोग होता, लेकिन नाम तो परिश्रमालय का ही रहता।

मूलोद्योग का खेल

मै देखता हूँ कि कितनी ही शालाओ मे जहाँ उद्योग दाखिल हुआ है, काम मे उतनी सचाई नही वरती जाती। कुछ दिखावट होती है और कुछ सजावट। वहाँ कुछ काम के साथ कुछ ज्ञान जोड देते है, जो खेल जैसा मालूम होता है। उससे क्या वह अधिक अच्छा नही है? मजदूरो के काम में गभीरता होती

है। मजदूर जानते है कि हम काम न सीखेंगे, तो गुजारा नही होगा। परन्तु शालाओ के वातावरण मे एक तरह का मिथ्यात्व दीखता है।

निर्वासित लड़कों की शिक्षा

ये विचार इस समय प्रकट करने का कारण यह है कि अभी सरकार ने निर्वासितो के बच्चो को तालीम देने का काम तालीमी-सघ को सौपना चाहा है। मुझे लगा कि जहाँ तक बडे लडको का सम्बन्ध है, क्या यह बेहतर नही होगा कि हम नाम परिश्र-मालय का लें और काम नयी तालीम का करें। उसके लिए सिर्फ इतना ही होना चाहिए कि परिश्रमालय का व्यवस्थापक उत्तम शिक्षा-शास्त्री हो। उसकी आत्मा शिक्षण से भरी हुई हो। वह स्वाभाविक रूप से वहाँ काम करेगा और कारखाने को उत्तम शिक्षण-शाला का रूप देगा।

—'सर्वोदय', सितबर १९४९

एक घंटे की पाठशाला : ३५ :

इन दिनो अपने भाषणो मे मै "एक घण्टे" के स्कूल की कल्पना कई बार रखता आ रहा हूँ। गाँव-गाँव मे सरकारी नही, ग्रामीण स्कूल चले और रोज सिर्फ एक ही घण्टा, सुबह के समय चले। नयी तालीम याने एक घण्टे की पाठशाला, ऐसा मेरा समीकरण करीब-करीब बन गया है। अब तक मुझे यह आशा नही थी कि ऐसी विचित्र कल्पना को लोग स्वीकार

करेंगे। पर आश्चर्य है कि लोग उसे मजूर करते हैं । इतना ही नही, उन्हे यह कल्पना काफी हृदयग्राही लगी हैं। अव वह लोगो के गले उतर रही है। यह हुई हमारी सवेरे की मौलिक पाठशाला।

इस प्रकार एक घण्टे का महाविद्यालय होगा । वह रात को चलेगा। पद्रह वर्प से कम आयु के वच्चे सुवह के स्कूल में जायेंगे। पन्द्रह वर्ष समाप्त होकर जिसे सोलहवाँ लगा, वह महाविद्यालय मे जाने का अधिकारी होगा, फिर वह पाठशाला में पढा हो या न हो। पाठशाला मे चलेगा लेखन, वाचन, गणित आदि और महाविद्यालय मे चलेगा श्रवण, कीर्तन, भजन आदि।

लडके-लडकियाँ दिनभर माता-पिता के काम में सहायता करेंगी। गुरुजी भी अपना काम करने के लिए मुक्त रहेंगे। गुरुजी को वेतन नही मिलेगा। साल के अन्त में प्रत्येक किसान की ओर से उन्हें दो-चार सेर अनाज मिलेगा।

पाठशाला में या महाविद्यालय मे जो कुछ पढा और कहा जायगा, उसका सम्वन्ध गाँव के उद्योग-धधो से जुडा होगा। रसोई, घर-काम, सफाई, उत्सव-समारंभ, खेल, जन्म, मरण, वीमारी आदि की भी गिनती उद्योगो मे मान ली जायगी।

गाँव के चालू उद्योगो का विकास और नये उद्योग दाखिल करने की जिम्मेदारी ग्राम-पचो की होगी। ग्राम-पचो मे शिक्षक भी रहेगा। पचायत द्वारा नमूने के तौर पर खेत, परिश्रमालय आदि चलाये जायँ, तो लडके और शिक्षक उनमें जा सकेंगे, लेकिन तीन घटे से अधिक नही। उनमें वच्चो और शिक्षको

को मजदूरी मिले। वह पैसो मे नही, वस्तुओ में मिले। ग्राम-पचो को जो उद्योग नही चाहिए, उनके बारे मे खटराग करने की जिम्मेदारी स्कूल की नही रहेगी। लेकिन वैसी जरूरत महसूस कराने का काम महाविद्यालय का रहेगा। प्रस्तुत आवश्यकता महसूस होने पर पचायत उस बारे में कोशिश करेगी और फिर स्कूल में उसका प्रवेश हो सकेगा। शिक्षण के लिए पैसे की जरूरत नही है, पैसे से मुक्त होने की जरूरत है।

—'सर्वोदय', दिसम्बर १९५४

भारतीय शिक्षण-शास्त्र : ३६ :

लोक-शिक्षण के विषय मे मूल को छोडकर शाखाओ के पीछे हमे नही पडना चाहिए। प्रौढ शिक्षण के पूरे काम मे कितना खर्च आयेगा, उसमे क्या-क्या मुश्किलें हैं आदि बातें एक सरकारी रिपोर्ट मे प्रकट की गयी हैं, जिन्हे पढकर मेरे वे विचार और भी दृढ हो जाते हैं। प्रौढ शिक्षण को नाम तो वैसे लोक-शिक्षण का दिया जाता है, क्योकि सुन्दर नामो के बिना हमारा समाधान नही होता। लेकिन हम मन में ऐसा मानते हैं कि उस नाम से काम तो मुख्यत साक्षरता-प्रचार का ही होता है।

तोता-रटंत

साक्षरता-प्रचार की बात जब सोचता हूं, तो बचपन का एक सस्मरण मुझे हमेशा याद आता है। ब्राह्मण-कुटुब की रीति

के अनुसार मुझे बचपन मे वैदिक सध्या सिखायी गयी थी और हफ्ते के भीतर ही मुझे वह कठ भी हो गयी। मेरी माँ इस बात की प्रशसा बहुत दफा लोगो के सामने किया करती थी। मैंने दो-चार दफा तो सुन लिया। शायद मन को वह प्रिय भी लगी होगी। लेकिन एक दिन मैंने माँ से कहा "माँ, मेरे सध्या-स्मरण का चमत्कार तू सबसे कहा करती है। पर उसीके साथ एक दूसरा भी चमत्कार है, वह तू कहाँ जानती है ?" उसने पूछा "दूसरा क्या चमत्कार है ?" मैंने जवाब दिया "विन्या हफ्ते के भीतर ही सध्या सीख तो गया, लेकिन उससे भी कम दिनो के भीतर वह उसे भूल भी गया !" 'वर्डस्वर्थ' ने कहा था "कमाते और खर्चते हम अपनी शक्ति का क्षय किया करते है।"

कारगर शिक्षा-साधन

अगर साक्षरता-प्रसार-शक्ति क्षयकारी न साबित हो, ऐसा हम चाहते है, तो हमें सार्थकता-प्रसार पर अपना ध्यान एकाग्र करना चाहिए और उसके लिए सक्रिय श्रवण जैसा कारगर और कम खर्चीला दूसरा कोई साधन ही नही है।

कल्पना का दारिद्र्य

हमारे पूर्वजो ने यह पहचाना भी था। सर्वोत्तम विचार निरतर सुनने चाहिए, सुनाने चाहिए। नवधा भक्ति के प्राथमिक तीन साधन हैं "श्रवण, कीर्तन, स्मरण।" इसके लिए मिट्टी के तेल की भी जरूरत नही रहती, जिसकी दिक्कत सरकारी रिपोर्ट में पेश की गयी है। हमारी गरीबी इतनी बढी हुई है,

यह तो हम जानते हैं, लेकिन उसके साथ-साथ हमारा कल्पना-दारिद्र्य भी कितना ज्यादा बढा है।

जिन हरि-कथा सुनी नहिं काना, श्रवण-रन्ध्र अहि-भवन समाना।
जो नहिं करहि राम-गुन गाना, जिय सो दादुर-जीह समाना।

अश्वपति का दृष्टांत

श्रुति, स्मृति और कृति, यही है थोडे में हमारा शिक्षण-शास्त्र। हजारो वरसो के अनुभव से यह स्थिर हुआ है। देश का हरएक नागरिक ज्ञानी होना चाहिए, यह विचार इस देश में नया नही है। उपनिषद् में अश्वपति राजा अपने राज्य का गौरव अपने मुँह से गा रहा है। कहता है "मेरे राज्य में न कोई चोर है, न कजूस, न कोई शराबी। न एक भी अविद्वान है, न अकर्मण्य। दुराचारी पुरुष ही नही है, तो स्त्री के दुराचारी होने का सवाल ही कहाँ उठता है?"

शिक्षण और शराबबदी

चोर और कजूस की वात तो मै छोड देता हूँ। उनका वाजार आजकल कितना गरम है, हर कोई जानता है। अभी मेरी चर्चा का वह विषय भी नही है। लेकिन शरावबन्दी के वारें में तो अग्रेजो ने हमसे कह दिया था कि "अगर शिक्षा चाहते हो, तो शराबवदी नही कर सकते।" अग्रेजो की तरह तो हम स्पष्ट बोल नही सकते, लेकिन दूसरे ढग से हम भी वही कह रहे हैं। कहते है "शराबवदी करो, मगर आहिस्ता-आहिस्ता करो, नही तो पैसा रुक जायगा।" पैसा रुका, तो सभी

रुका। तो साक्षरता भी रुक गयी, यह कहने की जरूरत ही नही।

निरक्षरता बनाम व्यसनमुक्तता

अब देखिये, लोक-शिक्षण के नाम मे साक्षरता-प्रचार करते जाना और शराबबदी की बात न बोलना, यह क्या है? मै तो कहूंगा 'मेरा देश निरक्षर रहे, तो कोई फिक्र नही, लेकिन उसे व्यसन-मुक्त तो फौरन् होना ही चाहिए।"

पढ़े-लिखे लोगों की श्रेणी

अश्वपति ने जब यह गवाही दी कि मेरे राज्य मे कोई अविद्वान् नही है, तो उसका मतलब क्या था? यही न कि हरएक नागरिक अच्छी तरह से समझ गया है कि चोरी, कजूसी, शराब-खोरी, आलस और दुराचार नही करना चाहिए। इसका अक्षरज्ञान से क्या सम्बन्ध है? पढे-लिखे लोग तो इन बुराइयो में प्रवीण दीख पडते है। क्या उन्हीकी श्रेणी मे सबको दाखिल करना है?

बुनियादी तालीम

मेरा यह मतलब नही कि पढने के कारण ये बुराइयाँ हो रही है। लेकिन मुझे दरशाना यही था कि पढने पर हम अत्यधिक जोर न दे। उसके खर्च की फिक्र मे न पडे। जन-शिक्षण का मुख्य उद्देश्य और कार्यक्रम ठीक ढग से सोचें और जो भी अक्षर-सस्कार हम चाहते है, बच्चो पर करें। इसके साथ-साथ हम अधिक-स-अधिक ध्यान बच्चो की बुनियादी तालीम पर दे।

—'सर्वोदय', दिसम्बर १६४६

साक्षरता-प्रचार : ३७ :

मैसूर की शिक्षा-परिषद्

आजकल मैसूर मे शिक्षा-परिषद् चल रही है । प्रौढो के शिक्षण की क्या व्यवस्था की जाय, यह उस परिषद् की चर्चा का विषय है। अनेक देशो के शिक्षा-शास्त्री वहाँ इकट्ठे हुए हैं। ऐसे विचार-विनिमय से जरूर कुछ लाभ मिलेगा, ऐसी आशा हम कर सकते है।

शाखा-विचार छोड़ें

शिक्षा के विषय मे जब-जब मैं सोचता हूँ, तो बहुत दफा मुझे ऐसा लगा है कि हमने नाहक उस विषय को जटिल बना दिया है। अगर हम मूल को पकड रखते हैं, तो सवाल हल हो जाता है । शाखाओ की बात सोचते हैं, तो शक्ति का क्षय होता है।

शिक्षा के काल्पनिक भेद

शिक्षण का मुख्य हेतु यही है कि सारी जनता को उद्योगशील और विचारशील बनाया जाय। लेकिन इस एक विषय के अनेक पहलू हम बनाते हैं। शहर की शिक्षा, गाँवो की शिक्षा, प्रौढो की शिक्षा, बच्चो की शिक्षा और फिर बच्चो में भी शिशु-शिक्षा, बुनियादी शिक्षा, स्त्रियो की शिक्षा, पुरुषो की शिक्षा, औद्योगिक शिक्षा, बौद्धिक शिक्षा और इन सबके अलावा साक्षरता-प्रचार।

एकहिं साधे सब सधे

अब इतने सारे पहलू बनाकर हम अगर सोचने लगें, तो सोचते ही रहते हैं। ध्यान विभाजित करके, 'थोडा खर्च इस पर, थोडा खर्च उस पर', इस तरह किसी भी चीज को पूरा सतोप नही दे पाते। इसलिए जड को पकडना और कोशिश ऐसी करनी चाहिए कि एक मे सब कुछ सध जाय। मेरे खयाल से वह जड है, बुनियादी शिक्षण, जिमे विशेषज्ञो ने सात से चौदह साल तक का माना है। यह अवधि और भी बढा सकते हैं। इधर वह छह साल से शुरू कर उधर पद्रह साल तक ले जा सकते हैं। यानी पूर्णता लाने के लिए मियाद जितनी बढानी जरूरी हो, बढा सकते हैं। उतने एक काम को सर्वांगसुदर बनाना चाहिए और वह शिक्षण सारे देश मे लाजिमी देना चाहिए। इसमे उद्योग आता है, विचार-विकास आता है और साक्षरता भी आती है। इसमे यह सवाल भी नही उठता कि सीखी हुई विद्या टिकी कैसे रहे? क्योकि वह एक अनुभवयुक्त ज्ञान होता है। इसलिए उसमे भूलने की तो गुजाइश ही नही। बल्कि जैसे एक बीज बोने से असख्य बीज पैदा होते है, वैसे उस विद्या की वृद्धि ही होती रहती है। जिस लडके ने इस तरह विद्या पायी है, वह आगे जाकर अपना ज्ञान शतगुणित करेगा।

बहुत सारी शाखाओ की बात अलग-अलग सोचते है, तो काम कुछ जल्दी कर लेते हैं, ऐसी बात भी नही है। अगर बुनियादी शिक्षण हाथ मे लेते हैं, तो वही लडके आगे चलकर प्रौढ नागरिक बनते हैं। वे ही अपने-अपने घरो मे पूर्व बुनियादी तालीम का

आयोजन कर लेंगे, तो न तो शिशु-शिक्षा की चिंता रहेगी और न प्रौढ-शिक्षा की।

उद्योग द्वारा प्रौढ़ शिक्षण

आजकल जिस प्रकार प्रौढो में साक्षरता-प्रचार चलता है, उससे कोई खास लाभ नही है। प्रौढो का शिक्षण भी उद्योग के जरिये ही होना चाहिए, जिससे बेकारो को उद्योग मिल सके और उनका बौद्धिक विकास भी हो।

मान लीजिये कि दो हजार की आवादी का गाँव है। ऐसे गाँव मे आठ या नौ साल का सपूर्ण बुनियादी शिक्षा-क्रम चलाया जाय, तो उसमे लडके करीव तीन सौ होगे। उनके लिए हम 'दर्जों के हिसाव से' आठ-दस शिक्षक नियुक्त करेंगे, तो उनके अलावा और भी दो-तीन शिक्षक ज्यादा देंगे। सव मिलकर वुनियादी शिक्षण चलायेंगे। साथ-साथ प्रौढो को भी वे जीवनोपयोगी ज्ञान-विज्ञान दे सकेंगे। कारण वे खुद अनेक उद्योगो में प्रवीण होगे। इसलिए किसान को भी वे व्यावहारिक ज्ञान दे सकेंगे। इसके अलावा दुनिया की वर्तमान स्थिति का ज्ञान, भूगोल का ज्ञान, आरोग्य, विज्ञान आदि भी देगे।

गलत दृष्टि

लेकिन कहा जाता है कि सरकार अभी वुनियादी तालीम पूरी नही चला सकती, क्योकि उसके लिए पर्याप्त पैसे नही हैं। मै कहता हूँ कि 'जितने भी पैसे हैं' इसीमें लगाइये। चार ही साल का वुनियादी स्कूल खोलने से कोई खास निष्पत्ति नही होती। पूरा वुनियादी स्कूल चलाने से ज्ञान परिपूर्ण होगा और खर्च भी

निकल आयगा। लेकिन इसमें कजूसी की जाती है। बुनियादी शिक्षक कम देते है और उधर प्रौढ शिक्षण के लिए अलग शिक्षक रखते हैं। बेहतर यह है कि बुनियादी शिक्षण के लिए पूरी सख्या में शिक्षक रखे जायें, जिससे वे ही प्रौढ-शिक्षा का काम कर सकें।

बुनियादी तालीम एक समुद्र

बुनियादी तालीम एक समुद्र है। उसमें विचार की सब नदियो का समावेश हो जाता है। उसमें स्त्री-पुरुष का भेद मिट जाता है। शहर और देहात का भी भेद नही रहता, क्योकि दोनो को मूल शिक्षण वही चाहिए। आगे चलकर कुछ फर्क हो सकता है, लेकिन विरोधी दिशा तो हरगिज नही हो सकती।

यह है शिक्षण की जड। लेकिन मुझे लगता है कि इस तरह जितनी तीव्रता और दूर दृष्टि से देखना चाहिए, नही देखा जा रहा है और बहुत सारा शाखाग्राही पाडित्य चल रहा है। उससे समस्याएँ बढ ही सकती है, हल नही की जा सकती।

परधाम-पवनार, ५-११-'४९

मूलोद्योग की शिक्षण-दृष्टि : ३८ :

व्यायाम-दृष्टि

'समवाय-पद्धति' उद्योग द्वारा ज्ञान देना चाहती है। इसलिए जहाँ तक सभव होगा, वह व्यायाम भी उसीमें से निकालेगी। मतलब यह है कि उद्योग करते समय बच्चो के शरीर का उचित

विकास होता है या नही, इस ओर शिक्षक को ध्यान देना चाहिए। तेजी के साथ ५-७ मिनट तक लगातार किये जानेवाले व्यायामो की अपेक्षा उद्योग मे यदि ठीक ध्यान रखा जाय, तो देर तक और धीरे-धीरे जो व्यायाम होता है, उसका महत्त्व शरीर-शास्त्र की दृष्टि से कम नही है।

कितु उचित ध्यान दिये विना उत्तम व्यायाम दे सकनेवाले लाभदायी उद्योग भी कष्टप्रद होते देखे जाते है। उदाहरणार्थ "पृष्ठेव तष्ट्यामयी" अर्थात् वढई की पीठ मे दर्द होता है और वह टेढी हो जाती है। ऋग्वेद की यह शिकायत हम इन दस हजार वर्षों में भी दूर नही कर सके है। हमारे देश मे ज्यादातर वढइयो की पीठे धनुषाकार दिखाई पडती है और वे सामान्यत दीर्घायु भी कम होते है। वैसे तो वढईगिरी को शरीर के लिए लाभदायक समझना चाहिए, पर दिनभर पीठ झुकाकर काम करने की आदत हमे यह लाभ नही उठाने देती। वढई के वहुत-से काम खडे-खडे किये जा सकते है, इस ओर हम लोगो ने ध्यान ही नही दिया।

कुछ देर बैठकर काम करने के वाद खडे होकर काम करना चाहिए। समयानुसार वैठने के ढग भी वदले जायँ। दोनो हाथो से अदल-वदलकर काम करना चाहिए। कुछ देर दर्जे के कमरे मे काम करने के वाद खुली हवा में कसरत, वगीचा आदि के लिए कुछ समय दिया जाय। कुछ देर निकट देखने का काम, तो कुछ देर दूर देखने का काम रहे, कुछ देर सगीत-गायन और कुछ देर केवल मौन। साराश यह कि इस प्रकार उद्योग को विना कुछ हानि पहुँचाये हम काम मे विभिन्नता ला सकते है, हमें लानी

चाहिए। उदाहरणार्थ अगर वच्चो ने तीस मिनट तक वैठकर तकली पर काता है, तो अटेरन पर सूत लपेटने में पाँच-दस मिनट लगेंगे। यह काम खडे होकर किया जाय।

कताई के पाठ्यक्रम मे दी हुई सूचनाओ में एक यह भी है कि कवायद के द्वारा उद्योग सिखाया जाय। वह सूचना यद्यपि प्रथम वर्ष के लिए दी गयी है, तो भी मामूली तौर पर वह सभी उद्योगों पर लागू होती है। उस सूचना के मूल में व्यायाम कराने का उद्देश्य है।

शिक्षक को खास तौर पर यह ध्यान रखना चाहिए कि उद्योग की किसी भी क्रिया में या अन्य विपयो की पढाई के समय विद्यार्थियो की शरीर-स्थिति विल्कुल ठीक रहे।

सातत्य-योग का अभ्यास

वहुत छोटे वच्चो के आसन थोडी-थोडी देर वाद वदलवाते रहना जिस प्रकार उद्योग का एक पहलू है, उसी प्रकार सातत्य से अर्थात् जमकर एक ही आसन पर या एक ही शरीरस्थिति मे काम करने का अभ्यास या धुन विद्यार्थियो में उत्पन्न करना उद्योग का दूसरा पहलू है। इसे "सातत्य-योग" कहते हैं। इसका अभ्यास विद्यार्थियो में उत्तरोत्तर वढना चाहिए। यदि यह मान लें कि तकली कातते समय वहुत छोटे वच्चो का हाथ १५-१५ मिनट पर वदलना है, तो "सातत्य-योग" के अभ्यास के लिए सप्ताह में एक दिन या सभव हो तो रोज ३०-४० मिनट एक ही हाथ से या एक ही आसन से कताई करवायी जाय।

सातत्य के विना कर्म-योग सिद्ध नही होता। आजकल हमारे

शिक्षित लोगो मे श्रम-सातत्य का अर्थात् लगातार मेहनत करने की ताकत का प्राय अभाव दिखाई पडता है। यह दोष हमे दूर करना चाहिए। उद्योग की अतिम परीक्षा कुछ हफ्तो तक रोज आठ घटे काम करने की है। हमें विद्यार्थियो को धीरे-धीरे इस लक्ष्य की ओर ले जाना चाहिए। जिस प्रकार नदी पर्वत से खेलती-कूदती निकलती है, परतु अत मे समुद्र के पास स्थिर हो जाती है, उसी प्रकार उद्योग-शिक्षण का आरभ "तकली के विविध अभ्यास" नामक प्रकरण मे लिखी विविधता के साथ हो, पर अत मे उसे सातत्य पर पहुंचना चाहिए।

कचरे का उपयोग

उद्योग मे कचरा कम-से-कम हो और जो हो, उसका भी उपयोग किया जाय, यह एक विशेष ध्यान देने की वात समझनी चाहिए। इस ससार में हम सवसे दरिद्र है, परतु इस विषय में हम उतने ही उदासीन और अपव्ययी (फिजूलखर्च) भी है। हम सोन-खाद (मैले की खाद) जैसी अमूल्य खाद को लापरवाही के साथ फेक देते हैं और उससे रोग फैलाते हैं। मरे हुए जानवरो के वारे में भी करीव-करीव यही दशा है। हम नीबू खाते हैं, पर उसका मूल्यवान छिलका फेंक देते हैं। इस तरह हमारे अपव्ययो के असख्य उदाहरण दिये जा सकते है। इसलिए इस सवध मे हमे सभी पहलुओ से गहरा ध्यान देना चाहिए। उदाहरणार्थ कपास साफ करते समय पीछे पडी ढोढी को निकालकर उसके विनौले व्यर्थ न फेंके, धुनाई चटाई के नीचे जमा होनेवाली

रूई को मोटा सूत कातने के या दूसरे किसी काम में ले ले। चरखा सिखाते समय शुरू में जो सूत टूटता है, उससे आलपीन खोसने की गद्दियाँ (पिन-कुशन्स) बना लें।

सौंदर्य-भावना

अक्सर लोग सवाल उठाते हैं कि छोटे बच्चे सुदर और सुव्यवस्थित माल कैसे तैयार कर सकेंगे? किंतु यदि उचित ध्यान दिया जाय, तो इस भय की कोई सभावना न रह जाय। अनुभव से यह पता चलता है कि बच्चो के हाथ मे निकला सूत उत्तम और साफ हो सकता है। बच्चो में अनुकरण करने की प्रवृत्ति होती है, इसलिए वे सौन्दर्य का भी अनुकरण कर सकते है। बच्चे इस बात के लिए कभी राजी नही होते कि उनके पिता की थाली में पूरा लड्डू हो और उनकी अपनी थाली में लड्डू का टुकडाभर हो। वे चाहते हैं कि उनको भी पूरा ही लड्डू मिले, भले ही वह छोटा हो। व्यावहारिक मनुष्य के उपयोगितावाद को ग्रहण करना बच्चो के लिए जितना कठिन है, सौंदर्य को ग्रहण करना उतना कठिन नही।

किंतु सौंदर्य के लिए तो १० ही नम्बर दिये जायँ और असुदर-सी चीज, जिसमे और गुण तो हो, पर सुदरता न हो, मजे से ९० नम्बर ले जाय, यह अनुचित ढग दूर होना चाहिए। जो सुदर नहीं, उसका शिक्षण में कुछ भी मूल्य नहीं होना चाहिए।

पूनियाँ निश्चित लबाई की होनी चाहिए। यह बात बच्चो को जितनी जचेगी, उतनी सयानो को नही जँचेगी। सयाने या बडे

तो यही कहेंगे कि अगर लबाई कुछ कम-ज्यादा हुई भी, तो क्या बिगडता है? निश्चित लबाई रखने के लिए विशेष ध्यान देना होगा, समय भी ज्यादा लगेगा, लेकिन उसके मुकाबले मे लाभ क्या होगा? ऐसे लोगो से हार मानकर ही शायद धर्मशास्त्रकारो ने यह कहा होगा, "अरे भाई, समान पूनियो मे स्वर्ग मिलता है।" छोटे बच्चो के शिक्षण मे मिथ्या उपयोगवाद को स्थान न मिलना चाहिए। काम कम हो, तो चल सकता है, पर हो वह सुदर। अर्थात् सौंदर्य के कारण काम कम होने से चलेगा, किंतु यदि गति की मदता के कारण काम कम हुआ, तो वह ठीक न होगा, यह स्पष्ट है।

सामूहिक भावना

विद्यार्थियो में सामूहिक रूप से एक साथ मिल-जुलकर काम करने की भावना उत्पन्न न हुई, तो हमारे शिक्षको ने कुछ नही किया। यह सामूहिक भावना हम लोगो में प्राय बहुत कम है। बडे-बडे सकटो के अवसरो को छोड हम अपने घरो के बाहर दृष्टि तक नही दौडाते।

उद्योग के द्वारा सामूहिक भावना उत्पन्न करना उद्योग का महत्त्वपूर्ण कार्य माना जाना चाहिए। कोई विद्यार्थी धुनने में असमर्थ हो, तो दूसरे विद्यार्थी को प्रसन्नता से उसका काम करने के लिए तैयार रहना चाहिए। वह खुद अपने लिए जितनी अच्छी धुनाई करता, उससे ज्यादा अच्छी धुनाई दूसरो के लिए करने की वृत्ति उसमें होनी चाहिए।

अपना-अपना कचरा हरएक उठा ले, परतु एकाध ने न

उठाया हो, तो दूसरो को चाहिए कि वे उस कचरे को उठाने का भार अपने ऊपर समझे।

"मुझे अपनी गति के वढने मे ही सतुष्ट नही हो जाना चाहिए, वल्कि मेरी सारी कक्षा की औसत गति उत्तम हो" यह भाव हरएक विद्यार्थी के मन में उठना चाहिए। इसके लिए व्यक्तिगत हिसाव के साथ-साथ सामूहिक हिसाव रखकर उसकी ओर सव विद्यार्थियो का ध्यान खीचना चाहिए।

चरखे की माल वनाना हरएक को आना चाहिए और सवको अपनी-अपनी माल तैयार करनी चाहिए। कितु यदि सारी कक्षा के लिए या दूसरे विद्यार्थियो के लिए माल तैयार करने का काम मिले, तो उसे वहुत खुशी से और सावधानी के साथ करना चाहिए।

हरएक विद्यार्थी के सूत की मजवूती की जाँच के लिए हर-एक का सूत अलग-अलग वुनवाया जाय। साथ ही वीच-वीच में सारी कक्षा के सूत का कपडा वुनवाकर पाठशाला के सग्रहालय मे रखा जाय। "यह हमारी कक्षा के सूत का कपडा है"—प्रेम की और सामूहिकता की ऐसी वृत्ति छात्रो में उत्पन्न की जाय और सव विद्यार्थी यह समझें कि उस कपडे के थान के गुण-दोष उन सभी के गुण-दोष हैं।

"तू अभी तक कातने मे प्रगति नही करता, ध्यान नही देता, वाकी सव विद्यार्थी आगे वढ रहे है, तुझे शर्म क्यो नही आती ?" शिक्षक को इस तरह की झिडकियाँ कभी नही देनी चाहिए। उसे तो विद्यार्थी से यह कहना चाहिए कि "तू अभी तक सूत-कताई की ओर ध्यान नही देता, इससे तेरी कक्षा की प्रगति कैसे

होगी ? कक्षा की प्रगति के लिए तो कक्षा के प्रत्येक विद्यार्थी को भरसक प्रयत्न करना चाहिए।"

इसी तरह अनेक उपायो द्वारा विद्यार्थियो मे सामूहिक वधु-भावना उत्पन्न की जानी चाहिए।

साधर्म्य-वैधर्म्य-प्रक्रिया

उद्योग की विभिन्न क्रियाओ, साधनो या बातो के सबध में ज्ञान देते समय हम उद्योग की सीमा में ही रहे, किंतु उसकी सीमा मे हम वद न हो जायँ। जिस प्रकार पर्वत पर बैठकर हम चारो ओर की दुनिया देखते हैं, उसी प्रकार उद्योग में पैर जमाकर उसके द्वारा हमे अपने चारो ओर के विश्व का निरीक्षण करना चाहिए। इस प्रकार उद्योग द्वारा विश्व-निरीक्षण की पद्धति को साधर्म्य-वैधर्म्य-प्रक्रिया कहते हैं। इसकी सहायता से मनुष्य उद्योग में रहता तो है, पर उसमे वदी नहीं हो जाता।

मान लीजिये कि विद्यार्थियो को यह वात समझानी है कि तकली या चरखा सीधी गति से घुमाना चाहिए। अत सीधी गति किसे कहते हैं, यह वात उन्हें तकली या चरखा प्रत्यक्ष घुमाकर और उसके घूमने की दिशा की ओर ध्यान आकृष्ट करके वतलानी होगी। किंतु ऐसा करते समय सीधी और उल्टी गतियो के अनेक दृष्टान्त यानी 'साधर्म्य' और 'वैधर्म्य' के दृष्टात वच्चो के सामने रखने चाहिए। उदाहरणार्थ

साधर्म्य के उदाहरण

(१) घडी की सुइयाँ कैसे घूमती हैं?

(२) कुएँ में बालटी डालते समय गिर्री या रहँट कैसे घूमता है?

(३) पेंच को कसते समय वह कैसे घूमता है?

(४) ताला लगाते समय ताली कैसे घूमती है?

(५) आरती कैसे उतारते हैं?

(६) मदिर की प्रदक्षिणा कैसे करते हैं?

(७) सलाई-ओटनी कैसे घुमाते हैं?

(८) हाथ-ओटनी किस प्रकार घुमाते है?

(९) तेली का कोल्हू कैसे घूमता है?

(१०) लट्टू कैसे घुमाते है?

वैधर्म्य के उदाहरण

(१) कुएँ से पानी खींचते समय।

(२) पेंच खोलते समय।

(३) ताला खोलते समय।

(४) चक्की मे आटा पीसते समय।

(५) सप्तर्षि या ध्रुव-मत्स्य देखते समय आदि।

ये सब बातें विद्यार्थियो को प्रत्यक्ष रूप से बतलानी चाहिए। इसमें कितना भी समय क्यो न लग जाय, कोई हर्ज नहीं।

साधर्म्य-वैधर्म्य-प्रक्रिया का उपयोग वैज्ञानिक एक अभिप्राय से और कवि दूसरे अभिप्राय से किया करते है। हमें दोनो अभि-

प्रायो से उसका उपयोग करना चाहिए—अर्थात् उद्योग पर प्रकाश डालकर ज्ञान को खरा बनाने के लिए और ब्रह्माड की सैर के आनद की अनुभूति के लिए।

भाषा के द्वारा प्रकाश

किसी मनुष्य को सूत कातना तो अच्छी तरह आता है, लेकिन कातने की क्रिया वह जिस प्रकार करता है, उसे वह भाषा द्वारा प्रकट नही कर पाता। तो उसके लिए यह कहा जा सकता है कि उसने पूरे तौर से कातने की प्रक्रिया नही समझी। इसे बोलने की शक्ति की कमी नही समझा जा सकता। बल्कि इसका अर्थ यह है कि हाथ से किया जानेवाला काम जिन बहुत-सी सूक्ष्म क्रियाओ के मिलने से हुआ है, उनका स्वरूप दिमाग मे नही जमा। या यो कहिये कि काम करना तो आ गया, लेकिन उस काम का विश्लेषण करना नही आया।

हमारे देश के प्राय सभी कारीगर इसी श्रेणी के हैं। यदि उनस कहा जाय कि हमें काम सिखा दो, तो वे कहेगे "भाई, जो कुछ हम करते हैं, उसे देखते जाओ" वे रदा मारकर दिखायेंगे और कहेंगे। "इस तरह रदा मारो।" उनके "इस तरह" से आपको जो कुछ समझना हो, समझ लीजिये।

हमें यह हालत वदलनी है। हाथ और बुद्धि, दोनो को मिलानेवाली है—वाणी। इसलिए उद्योग की क्रियाएँ और वाणी द्वारा उन्हें व्यक्त करने की शक्ति, दोनो विद्याएँ जब तक विद्यार्थी को न आ जायँ, तब तक यह न समझना चाहिए कि उसे उद्योग आ गया।

वाणी का अर्थ है "निश्चित और स्पष्ट वाणी" उदाहरणार्थ पेंसिल को लवरूप में खडी करने पर बहुत-से लोग उसे "सीधी" कहते हैं। दूसरे रूप में खडी करने पर उसे "टेढी" कहते हैं। वास्तव में पहली खडी है, दूसरी तिरछी है, पर दोनो हालतो में सीधी है। हाल में ही किसी शिक्षा-विभाग की ओर से प्रकाशित एक पुस्तक में शिक्षको को सूचना दी गयी थी कि "अमुक श्रेणी के बच्चो को जोड सिखलाने में सख्याएँ पचास से ऊपर न हो।" परतु कहना यह था कि जोड के लिए ऐसी सख्याएँ ली जायँ, जिनका योगफल पचास से अधिक न हो। इस प्रकार कहा कुछ जाय और अर्थ कुछ निकले, उसे मै वाणी नही कहता।

यह बात मातृभाषा के क्षेत्र की है। इसलिए मातृभाषा की कक्षा में इसकी ओर विशेष ध्यान देना चाहिए। किंतु मेरे विचार से तो यह बात उद्योग के ही अतर्गत आ जाती है, और सिर्फ उद्योग की शिक्षा देनेवाली पाठशालाओ में भी हम इसे छोड नही सकते।

शास्त्रीय बुद्धि

उद्योग द्वारा विद्यार्थियो में शास्त्रीय बुद्धि का विकास होता रहना चाहिए। शास्त्रीय बुद्धि में निम्नलिखित बातो का समावेश होता है

(१) पृथक्करण—किसी बात का या वस्तु का विश्लेषण करना। अर्थात् उसके विभिन्न भागो को अलग-अलग करना।

(२) एकीकरण—पृथक्करण का उल्टा। अर्थात् किसी बात या वस्तु के विभिन्न भागो का सयोजन करना।

(३) वर्गीकरण—भिन्न-भिन्न श्रेणियो में विभाजित करना।

(४) अनुक्रम—सिलसिलेवार जमाना।

(५) साहचर्य—कौनसी वात या वस्तु दूसरी किस बात या वस्तु से मिलती है, यह देखना।

(६) कार्य-कारणभाव—कार्य से परिणाम पर पहुँचना और परिणाम को देखकर उसके कारण का पता लगाना।

(७) इद्रियप्रामाण्य—इन्द्रियो के ज्ञान से वस्तुओ का अनुमान लगाना।

(८) इद्रियभ्रम—इद्रियो के भ्रम में न पडना। अर्थात् ऊपरी रूप को देखकर भुलावे में न पडना।

(९) महत्त्वमापन अथवा तारतम्य—वस्तुओ के आकार-प्रकार की तुलना करना।

(१०) सशय—सदेह का निवारण करना।

(११) निश्चय—निश्चित परिणाम पर पहुँचना।

अगर इन सवके उदाहरण दिये जायँ, तो विषय बहुत वढ जायगा। सक्षेप में खास बात यह है कि उद्योग के द्वारा वुद्धि में अन्वेषण (छानबीन या खोज) की शक्ति उत्पन्न होनी चाहिए। अमुक बात इस प्रकार से करनी या नही करनी है, केवल इस तरह के विधि-निषेध के ज्ञान से उद्योग में वास्तविकता और सजीवता नही आ सकती। ऐसा नही होना चाहिए। कोई बात क्यो करनी चाहिए और क्यो नही करनी चाहिए, इसका कारण जाने विना, केवल आँख मूँदकर विधि-निषेध का पालन करने से उद्योग में प्रगति नही हो सकती।

कोई विधि अथवा निषेध करते समय उसका कारण उसी समय बताना जरूरी नही है। कारण की मीमासा आवश्यकतानुसार आगे-पीछे या साथ-साथ कर सकते है, पर वह हो अवश्य, इतना ही मुझे कहना है। सिखाने की पद्धति ऐसी हो कि विद्यार्थियो के दिल मे प्रश्न उठते जायँ और वे स्वय उन्हे शिक्षको के सामने रखते जायँ। अवसर देखकर शिक्षक स्वय भी प्रश्न करें और विद्यार्थी उनके सबध में चर्चा करें।

जिन प्रश्नो को मामूली तौर पर कोई न पूछे, ऐसे प्रश्न भी पैदा किये जायँ। उदाहरणार्थ, चरखे का चक्र चौखूंटा क्यो न हो? इस तरह का प्रश्न मामूली तौर पर कोई नही पूछता। अगर किसीने पूछा भी, तो लोग उसे मूर्ख समझेंगे। किंतु हम तो उसे चतुर समझेंगे। इतना ही नही, बल्कि हम स्वय ऐसा प्रश्न उपस्थित करेंगे और उसका शास्त्रीय उत्तर तर्क द्वारा निकलवायेगे।

परिश्रम-निष्ठा

परिश्रम अलग चीज है और परिश्रम-निष्ठा, परिश्रम के प्रति आदर और प्रेम अलग चीज। ससार में ज्यादातर लोग शारीरिक परिश्रम (मेहनत) करनेवाले ही है। परतु वे अक्सर मजबूर होकर मेहनत करते है। बहुत-से लोग तो मेहनत के कामो से यदि बच सकें, तो बचना ही चाहेंगे। कुछ लोग तो शारीरिक परिश्रम से बचकर अर्थात् उसका भार दूसरो पर लादकर भी प्रतिष्ठित बने बैठे है। इसीसे साम्राज्यवाद, पूंजीवाद, युद्ध, विषमता (छोटे-बडे भेद, ऊँच-नीच आदि भेद) आदि की उत्पत्ति हुई है। इन सबका केवल एक ही इलाज है,

और वह यह कि विद्यार्थियो में यह भावना पैदा की जाय कि बिना कुछ शरीर-श्रम किये शरीर को अन्न देना, अपने और समाज के प्रति अपराध करना है।

हमारी शिक्षा-प्रणाली द्वारा शिक्षा पाये शिक्षितो में इस प्रकार की भावना खूब जोरदार होनी चाहिए। हमारे देश मे आजकल तो यह हालत है कि बच्चो को पढने के लिए स्कूल भेजने पर वे गोबर उठाने में तो आनाकानी करते हैं, मगर दूध पीकर खुश होते है। किंतु होना यह चाहिए कि हमारी शिक्षा-प्रणाली से शिक्षित होकर निकलनेवाले बच्चे गाय का गोबर उठाने में हर्ष प्रकट करें और दूध पीने में, चूंकि दूसरो को वह नही मिलता है, सकोच मानें।

इसलिए विद्यार्थियो के साथ-साथ शिक्षक को भी यथाशक्ति शारीरिक परिश्रम के कामो में भाग लेना चाहिए। पाठशाला के समय उसका किया हुआ उद्योग पाठशाला का ही समझा जाय। परतु इसके अलावा विद्यार्थियो के सामने हरदम यह उदाहरण रहना चाहिए कि शिक्षक और उसके घरवाले अवकाश के समय और छुट्टी मे अन्य देहाती मजदूरो की तरह ही प्रसन्नता से शारीरिक श्रम करते हैं।

गाँव की गदगियो को दूर करना आदि सार्वजनिक कार्य तो शिक्षक और विद्यार्थी, दोनो को मिलकर यथावसर करने ही हैं, परतु पाठशाला को बुहारना, पाठशाला का आँगन साफ करना, उसे गोबर से लीपना आदि कार्य भी विद्यार्थियो के साथ शिक्षक करें, ऐसा नियम होना चाहिए। तुच्छ समझा जानेवाला कोई भी काम केवल विद्यार्थियो को नही सौपना चाहिए, बल्कि शिक्षक

को उसे स्वय करना और वच्चो से कराना चाहिए। इस प्रकार किये विना वच्चो में परिश्रम-निष्ठा उत्पन्न नहीं होगी।

'सोन-खाद' का उत्तम उपयोग किस प्रकार किया जाता है और पाखाने की आदर्श व्यवस्था कैसी होनी चाहिए, इसकी शिक्षा भी पाठशाला के उद्योग के अतर्गत समझी जानी चाहिए। फिर चाहे वह उद्योग कताई का हो या वढईगिरी का या खेती का।

राष्ट्रीय झडे पर वना चरखा शारीरिक परिश्रम का अर्थात् अहिंसा का चिह्न है। इसका अहसास पाठशाला के औद्योगिक वातावरण के जरिये होना चाहिए।

—'मूल उद्योग कातना' से

एकड़ का कोष्ठक : ३६ :

पाठशालाओ में छात्रो को गणित के लिए कोष्ठक सिखलाने पडते हैं। वचपन मे गुरुजी ने रटाई और छडी, इन दो औजारो के वल पर हमारे गले भी ये कोष्ठक उतारे, पर उनमें से वहुत-से शरीर में भिदे नही। इसका एक कारण तो इन दोनो औजारो और दूसरे कुछ कोष्ठको का प्राय निरुपयोगी होना था। वास्तव मे कोष्ठक जीवनोपयोगी हो, तो जीना चाहनेवालो को वे पसन्द आयेंगे ही। वे इसी ढग से सिखलाने भी चाहिए कि पसन्द ही आयें। इस वारे मे दिग्दर्शन के लिए एक उदाहरण दे रहा हूँ।

'एकड' शब्द की व्याख्या

जीवन का प्रमुख आधार खेती है और वह एकड से मापी जाती है। इसलिए बच्चो को एकड का कोष्ठक सिखलाना आवश्यक है। वह कैसे सिखलाया जाय, इसी पर विचार करें। इससे पहले यह बता देना आवश्यक है कि यह 'एकड' अग्रेजी का शब्द है। पर चूंकि अब वह हम लोगो के यहाँ प्रचलित हो गया है, इसलिए उसकी स्वदेशी व्याख्या यह है "एकड यानी खेती मापने का अक।" हिन्दुस्तान में सरसरी तौर पर प्रतिव्यक्ति एक एकड जमीन पडती है। इसलिए आज की स्थिति में हिन्दुस्तान में एक आदमी की मालकियत की जमीन 'एकड' है। इस तरह दुहरी युक्ति से 'एक' शब्द से 'एकड' शब्द की व्याख्या करनी चाहिए, जिससे वह शब्द बच्चो को सहज ही हृदयगम हो जाय।

१२१ × १२१ फुट के ३६० टुकड़े = एकड़

एकड का अर्थ ४८४० वर्गगज बताया जाता है। यह विलक्षण आँकडा कैसे याद रहे ? उसके लिए दो महत्तम अवयव किये जायँ। वे होगे १२१ × ४०। इस १२१ वर्गगज को 'गुठा' नाम देकर ४० गुठे याने एकड, इस तरह कोष्ठक बनाया गया है। पर हम गज की भाषा छोड फुट की भाषा अपनायें और गुठो के भी और छोटे भाग बनायें। गुठा यानी १२१ वर्गगज जमीन अर्थात् ११ गज × ११ गज, इस तरह एक जमीन का चौरस टुकडा हुआ। उसके ११ फुट लम्बे और ११ फुट चौडे, ऐसे ९ टुकडे किये जा सकेंगे। ये १२१ वर्गफुट के छोटे टुकडे गुठा में ९ यानी एकड में ३६० होगे।

११ फुट × ११ फुट = १ घंटा

मोटे तौर पर साल के ३६० दिन होते है। अगर हम रोज १२१ वर्गफुट जमीन खोदने का निश्चय करे, तो एक साल में १ एकड जमीन खोदी जायगी। हम भूल जायेंगे कि बरसाती दिन जमीन खोदने मे आडे आयेंगे। इतनी जमीन रोज खोदनी ही हो, तो रोज कितना समय लगेगा? आदमी की सामर्थ्य, जमीन के प्रकार, ऋतुमान और औजारो की योग्यता के अनुसार इस प्रश्न का भिन्न-भिन्न उत्तर होगा, पर अनुभव मे यही आया कि इस काम में ४० मे ८० मिनट लगेंगे। मोटे तौर पर कहा जा सकता है कि एक घण्टा लगता है। चूंकि एक घटे में यह जमीन खोदी जाती है, इसलिए लक्षणावृत्ति से इस जमीन को हम 'घण्टा' कहेगे। घण्टा यानी ११ फुट × ११ फुट जमीन—यह ध्यान रखना कठिन नही। "एक पर एक ग्यारह" यह सूत्र बच्चो को मालूम ही है। ११ फुट लम्बी लकडी बनायेंगे और उससे चौरस-चौरस जगह रेखाकित कर अपने इस घण्टे का बच्चो को प्रत्यक्ष दर्शन करा देंगे। अब ऐसे ३६० घण्टे मिलकर १ एकड, इस तरह सीधा-सादा कोष्ठक तैयार हो गया। (यहाँ घण्टे का अर्थ ११ फुट × ११ फुट की सम चौरस जमीन न होकर १२१ वर्गफुट जमीन, इतना ही है—यह बात बच्चो के ध्यान मे ला देनी चाहिए। १२१ वर्गफुट जमीन अनेक प्रकार की हो सकती है। हमने स्मरण रखने की सुविधा के लिए उसे ११ फुट × ११ फुट लिया है।) अगर हमे खेती के लिए बच्चो को जमीन बाँट देनी हो, तो उसे घण्टो के माप में ही बाँटेंगे। किसीको एक घण्टा

जमीन, तो किसीको दो घण्टा जमीन देगे। इससे बच्चो को अपनी-अपनी फसल पर से प्रति एकड फसल का हिसाब लगाना सुलभ हो जायगा।

१ फर्लाङ्ग × १ फर्लाङ्ग = १० एकड़ = आगर

अब तक एकड का नीचे से कोष्ठक देखा गया, अब ऊपर से देखा जाय। एक फर्लांग औरस-चौरस जमीन ४८,४०० वर्गगज होती है, याने दस एकड। साधारणत जमीन का एक टुकडा १० एकड का माना जाता है। मध्यप्रदेश सरकार ने १० एकड से कम जमीनवाले किसानो को दो आना रुपया छूट कर दी है—यह बात शिक्षको ने बच्चो को बतायी ही है। इसी पर से उन्हे बच्चो के मन मे यह बात बैठा देनी चाहिए कि साधारणत खेत १० एकड का होता है। ऊपर बताया ही जा चुका है कि हिन्दुस्तान मे प्रतिव्यक्ति के पीछे एक एकड जमीन पडती है। ५ व्यक्तियो के एक कुटुब के लिए ५ एकड हुए। आज हिन्दुस्तान मे ७५ प्रतिशत कृषक हैं, जब कि ४० साल पहले ७० प्रतिशत थे। देश के उद्योग-धघो का ह्रास होते जाने से इन ४० वर्षों में अधिकाधिक लोगो का भार खेती पर पडा और खेतिहरो की सख्या ७० से ७५ प्रतिशत हो गयी। अच्छी स्थिति वही समझी जायगी, जब कि ५० प्रतिशत लोगो का भार केवल खेती पर पडे। अगर आज वैसी स्थिति होती, तो प्रत्येक कृषक कुटुब के हिस्से मे सरसरी तौर पर १० एकड जमीन पडती। एक बैल-जोडी के लिए २० एकड जिराइत (खेती की जमीन) लगती है। पर कुछ जिराइत और कुछ बगीचे की जमीन ली

जाय, तो १० एकड़ का टुकड़ा एक बैल-जोड़ी के लिए छोटा नहीं पड़ेगा। कुल मिलाकर किसी भी प्रकार दस एकड़ खेत 'सर्व साधारण खेत' निश्चित होता है। इसे हम 'आगर' नाम दें और बच्चों को सिखायें कि दस एकड़ यानी एक आगर।

६४० एकड़ = १ वर्गमील

यह 'आगर' ठीक चौरस होगा, तो एक फर्लांग लम्बा और एक फर्लांग चौड़ा होगा। फर्लांग शब्द का मौलिक अर्थ भी यही है। एक वर्गमील में ऐसे कितने आगर समायेंगे? एक रुपये के जितने पैसे उतने याने ६४। १० एकड़ = १ आगर और ६४ आगर = १ वर्गमील, इसलिए ६४० एकड़ = १ वर्गमील। ६४० का आँकड़ा सूत कातनेवाले बच्चों का सुपरिचित आँकड़ा होने से उन्हें इस कोष्ठक का बोझ नहीं मालूम पड़ेगा। एकड़ याने घण्टे का ३६० गुना और वर्गमील का ६४०वाँ हिस्सा—इस तरह दुहरी पकड़ के बीच एकड़ स्थिर है।

यहाँ यह बतलाना अकारण आवश्यक हो गया है कि गुंडी में ६४० तार हुआ करते हैं और वर्गमील में भी ६४० एकड़ होते हैं। इस उपमा द्वारा बच्चों को कोष्ठक समझाना मूलोद्योग द्वारा समवाय साधना नहीं है। मूलोद्योग के बीच से ही एकड़ के कोष्ठकों की आवश्यकता पैदा होना ही समवाय है। उपमा द्वारा ज्ञान को गले उतारना शिक्षक की कला है। यद्यपि इस कला का समवाय से विरोध नहीं, फिर भी स्वयं वह कला समवाय नहीं है।

एकड का चढता-उतरता कोष्ठक

१२१ वर्गफुट	=	१ घण्टा
९ घण्टे	=	१ गुठा
४० गुठे	=	१ एकड
३६० घण्टे	=	१ एकड
१० एकड	=	१ आगर
६४ आगर	=	१ वर्गमील
६४० एकड	=	१ वर्गमील

—'ग्रामसेवा-वृत्त', सितम्बर १९४०

विषय कैसे पढ़ाये जायँ ? : ४० :

(एक निजी चर्चा से)

हास्यास्पद समवाय

मै अब तक दो-चार बार इस विद्यालय की विभिन्न कक्षाओ का निरीक्षण कर आया हूँ। इन कक्षाओ मे उद्योग के माध्यम से शिक्षा देने का जो प्रयास किया जा रहा है, उससे मुझे सतोष नही हुआ। इसमे शिक्षको का खास दोष नही। सारा प्रयोग ही नया है।

एक कक्षा मे एक शिक्षक कोई कहानी सुना रहे थे। उसके अत में उसका सबध तकली से जोडा गया और फिर तकली का गीत शुरू हुआ। पर इसमें मुझे कृत्रिमता मालूम पडी। तकली सबधी कविता का मतलब तकली द्वारा शिक्षा देना नही। इसी तरह तकली द्वारा गणित सिखाने का अर्थ यह नही कि बच्चो को पन्द्रह-बीस पूनियाँ दी जायँ और उनमें थोडा-बहुत अन्तर कर

उनके द्वारा जोड़-बाकी करायी जाय। इससे पूनियाँ खराब हो जाती हैं। उनकी जगह कंकड, पत्थर के टुकड़े देकर भी जोड़-बाकी सिखायी जा सकती है। वस्तुत. उद्योग में मौका देखकर गणित सिखलाना चाहिए। साथ ही किसी भी उद्योग में गणित तो लबालब भरा है।

प्रसंग का उल्लेख भी जरूरी

यहाँ छोटे बच्चों की एक कक्षा चल रही है। साधारणत. वह कक्षा ठीक ही चल रही है, पर मुझे उससे भी पूरा सन्तोष नहीं हुआ। अवश्य ही शिक्षक ने विषयवार लिख रखा है कि उद्योग द्वारा क्या-क्या सिखलाया, पर केवल इतने से काम नहीं चल सकता। उसे यह भी लिख रखना चाहिए कि वह विषय कौन-सा प्रसंग या अवसर देखकर सिखलाया गया? सामाजिक अध्ययन में अमुक-अमुक बात बतायी, इतना ही उल्लेख पर्याप्त नहीं, बल्कि विस्तृत रूप से यह भी लिख रखना चाहिए कि वह बात कौन-सा मौका निकालकर बतायी गयी। कोई भी ज्ञान अप्रासंगिक न दिया जाय, प्रासंगिक ज्ञान ही दिया जाय। इस बात का सदा ध्यान रखें।

समवाय के उदाहरण

सामाजिक अध्ययन के बारे में यह धारणा-सी बनी दीखती है कि सभी विषय उद्योग द्वारा सिखलाये जायँ। पर वह धारणा ठीक नहीं। जैसे चाभी से ताला खोला जाता है, ठीक वैसे ही उद्योग द्वारा जीवन को खोलना है।

मान लीजिये, बारिश का दिन है। तो कक्षा में बच्चों से

पहले यही पूछिये कि क्या आप लोग आज शौच, मुख-मार्जन आदि से निवट आये है ? यह प्रश्न आज ही क्यो ? इसलिए कि वर्षा के कारण बच्चे शौच जाने से असकताते है।

बच्चो को खिडकी-दरवाजो के बारे मे जानकारी करानी है, तो मै उनसे पूछूंगा "खिडकियो का क्या उपयोग है ?" बच्चे कहेगे "उनसे उजाला और हवा भीतर आयगी।" फिर मै पूछूंगा "छप्पर मे खिडकियाँ बना देने से हवा और रोशनी मिलेगी ही, तो क्या उन्हीसे काम चल सकेगा ?" वे कहेगे "नही, बाहरी सृष्टि भी दिखाई पडनी चाहिए।" फिर मै पूछूंगा "मान लो, वैसी खिडकियाँ भी बना दी। पर उनसे बाहर-भीतर जाना-आना नही हो सकेगा, तो उनसे काम चलेगा क्या ?" वे कहेगे "नही, बाहर-भीतर जाने की व्यवस्था भी चाहिए। इसके लिए दरवाजा चाहिए।" इस तरह खिडकियो और दरवाजो का उपयोग जब उनके ध्यान में आ जायगा, तो मै उनसे पूछंगा "बताओ तो, अपने शरीर में ऐसे खिडकी-दरवाजे कौन-कौन-से हैं ?" आँख, कान, मुँह, नाक आदि को सस्कृत मे 'द्वार' कहा गया है। गीता में कहा है "सर्वद्वाराणि सयम्य"—सभी दरवाजो का नियमन कर सभी खिडकी-दरवाजो पर पहरा रखना चाहिए। "नवद्वारे पुरे देही"—नौ दरवाजो के नगर में यह आत्मा निवास करती है। मानव को आँखो पर से खिडकी रखने की कल्पना सूझी होगी ? पर मनुष्य की आँखें तो बहुत छोटी होती हैं। गाय की आँखें बडी होती है, इसीलिए मनुष्य गाय की आँखो की तरह खिडकियाँ बनाने लगा। सस्कृत मे खिडकियो का नाम है 'गवाक्ष।' गवाक्ष माने गाय की आँखें। उसी तरह

की खिडकी अकित कर दिखाओ, ऐसा मै लडको से कहूँगा। ऐसी आँख वनायी, तो वह चित्र-कला हो गयी। उसके वाद मै वताऊँगा कि लोगो ने उसमे किस-किस तरह हेर-फेर किया। यह हो गया इतिहास। अव इस तरह की खिडकियाँ क्या आज कही मिलेगी? यह वतलाने के लिए मै उन्हे 'लॅपलॅड' की ओर ले जाऊँगा और उसी प्रसग मे वहाँ के निवासियो का जीवन तथा अन्य जानकारी कराऊँगा। साराँश, इस तरह प्रासगिक रूप से दूर देश के लोगो के जीवन की जानकारी देनी चाहिए।

हमारे देश जैसा ही प्राचीन और अत्यन्त घनी आवादीवाला तथा वहुत जोती गयी जमीनवाला देश चीन है। पर चीन इतना उपजाऊ क्यो है? जमीन का उपजाऊपन वनाये रखने के लिए क्या करना चाहिए? यह वताते हुए मै वच्चो को खाद की जानकारी कराऊँगा। स्वर्ण-खाद का उपयोग कैसे किया जाय, यह वात चीनियो से विशेष रूप से सीखने की है। चीन में स्वर्ण-खाद का काफी उपयोग किया जाता है, उससे वहाँ की जमीन इतने साल जोती जानें पर भी उपजाऊ वनी हुई है, यह वात मै उन्हें समझाऊँगा।

एक अमरीकन ने "चार हजार साल के किसान" नामक एक पुस्तक लिखी है। उसमे उसने वताया है कि "हम अमरीकन लोग उडाऊ है। हर आदमी के पास १५-२० एकड जमीन है। हमारी जमीन अभी केवल चार सौ साल से जोती गयी है। इतना होते हुए भी उपजाऊपन के लिए हम तरह-तरह की रासायनिक खाद डालते और जमीन को विगाडते हैं। स्वर्ण-खाद जैसी

उत्कृष्ट खाद हम व्यर्थ ही बरबाद करते हैं।" शिक्षको को वह पुस्तक अवश्य पढनी चाहिए।

अगर किसी दिन जोर की वर्षा हो, तो बच्चो को छुट्टी दे देनी चाहिए। उस वर्षा मे बच्चे खेले-कूदेगे, मौज उडायेगे। उनके साथ ही शिक्षक भी कपडे उतार, लँगोटी लगाकर उन्हें खेलाये और उन्हे बताये कि वर्षा परमात्मा की कृपा है। हमारे यहाँ बारिश होने पर छुट्टी होती है, पर इग्लैड में धूप होने पर। ऐसा क्यो ? इसलिए कि वहाँ सदा ही दुर्दिन--बादलो से घिरा दिन—होता है। इसी कारण सूरज निकलने पर छुट्टियाँ दी जाती हैं। बच्चे मौज से खेलते-कूदते हैं। इस तरह मै बच्चो को इग्लैड के जलवायु की जानकारी दूँगा।

साधर्म्य-वैधर्म्य ज्ञान

सामाजिक शिक्षा मे इतिहास, भूगोल, नागरिक-शास्त्र आदि पढाते है। इतिहास और भूगोल सिखाने का अर्थ है, बच्चो को काल और देश का परिचय देना। काल और देश, दोनो इतने एकरूप हैं कि किसी भी भाषा मे कालवाचक शब्द का स्थलवाचक के लिए भी प्रयोग किया जाता है। "इस प्रश्न का उत्तर आपको पीछे दूँगा", यहाँ 'पीछे' शब्द 'कालवाचक' है। पर "वह उसके पीछे चलने लगा", यहाँ 'पीछे' शब्द 'स्थल-वाचक' है।

जब हम कहते हैं कि इतिहास-भूगोल पढाया जाय, तो उसका यही अर्थ है कि प्राचीनकाल और दूर देश के लोगो की जानकारी करायी जाय। यह जानकारी अगर निकट के ही लोगो की हो,

पर पुराने जमाने की हो, तो 'इतिहास' बन जाती है और आज के ही जमाने के, पर दूर देश के लोगो के बारे में हो, तो 'भूगोल' बन जाती है।

यहाँ एक पक्ष यह कहता है कि छोटे बच्चो को दूर देश और प्राचीनकाल के लोगो की जानकारी करायी जाय। दूसरा पक्ष कहता है कि आज के जमाने से शुरू कर क्रमश बच्चो को पुराने जमाने की ओर ले जायें।

उपर्युक्त दोनो मत परस्पर-विरुद्ध-से मालूम पडते है, पर वास्तव मे वैसे नही है। एक कहता है, अतिप्राचीन बताये, तो दूसरा कहता है, अतिअर्वाचीन बताये। पर कोई भी यह नही कहता कि बीच का बतायें और वह ठीक भी है। ज्ञान के लिए तुलना अत्यावश्यक वस्तु है और तुलना के लिए या तो आस-पास ठीक पडता है या बिलकुल दूर का। दूर का और पास का, दोनो को समझना ही "साधर्म्य-वैधर्म्य ज्ञान" कहा जाता है। गाधीजी की अहिसा की जैसे समाज-सत्तावाद से तुलना की जा सकती है, वैसे ही दूसरी दिशा से उसकी तुलना साम्राज्यवाद से की जा सकती है।

किन्तु यह सावर्म्य-वैवर्म्य ज्ञान कभी भी अप्रासगिक न दिया जाय। शिक्षक उठे और 'लॅपलॅड' की जानकारी कराने लगे, तो वह चल नही सकता। प्रसग उपस्थित कर और उसे पहचान करके ही वह कोई जानकारी दे। ऐसे प्रसग लाना कोई कठिन बात नही।

छोटे बच्चों के लिए कविता : ४१ :

(एक पत्र में से)

छोटे बच्चो को सिखलाये जानेवाले पद्य का अक्षरश शब्दार्थ उनकी समझ में आ जाय, ऐसी आशा रखना ठीक नही। उसका भावार्थ भी उनकी समझ में आ जाय, तो काफी है।

छोटे बच्चो को बचपन के गाने सिखाने की चाल पड गयी है। पर मेरा अपना अनुभव है कि वे अध्यात्म-विद्या, साम्ययोग, भक्ति-मार्ग आदि की कल्पना बहुत अच्छी तरह ग्रहण कर लेते है। ज्ञानेश्वरी, ज्ञानदेव के अभग, एकनाथ, नामदेव और तुकाराम के चुने हुए अभग, समर्थकृत मन के श्लोक, दासबोध के उपदेश-पाठ, गीताई, वामन पडित का नीति-शतक आदि अमूल्य साहित्य बालको को कठस्थ करा देना चाहिए।

बालको की स्मरण-शक्ति अच्छी होती है। उससे लाभ उठाकर उपयोगी धर्मामृत उनके गले उतारना चाहिए। रस्किन को ५-६ वर्ष की अवस्था में ही बाइबिल याद हो गयी थी। मैने अपना अनुभव तो बता ही दिया। ...

गंभीर अध्ययन का सूत्र : ४२ :

समाधियुक्त अध्ययन

अध्ययन में लबाई-चौडाई महत्त्व की चीज नही है। महत्त्व है गभीरता का। बहुत देर तक, घटो भाँति-भाँति के विषयो

का अध्ययन करते रहने को मैं लंबा-चौड़ा अध्ययन कहता हूँ। समाधिस्थ होकर नित्य-निरन्तर थोड़ी देर तक किसी निश्चित विषय के अध्ययन को मैं गंभीर अध्ययन कहता हूँ। दस-बारह घंटे सोना, पर करवटें बदलते रहना, सपने देखते रहना—ऐसी नींद से विश्रांति नहीं मिलती, बल्कि पाँच ही छह घंटे सोवे, किन्तु गाढ निद्रा हो, तो इतनी नींद से पूर्ण विश्रांति मिल सकती है। यही बात अध्ययन की भी है। 'समाधि' अध्ययन का मुख्य तत्त्व है।

बुद्धि में नयी कोंपलें

समाधियुक्त गंभीर अध्ययन के बिना ज्ञान नहीं। लंबा-चौड़ा अध्ययन बहुत-कुछ फालतू ही होता है। उसमें शक्ति का अपव्यय भी होता है। अनेक विषयों पर गट्ठाभर पढ़ाई करते रहने से कुछ हाथ नहीं लगता। अध्ययन से प्रज्ञा, बुद्धि स्वतंत्र और प्रतिभावान होनी चाहिए। प्रतिभा के मानी है, बुद्धि में नयी-नयी कोंपलें फूटते रहना। नयी कल्पना, नया उत्साह, नयी खोज, नयी स्फूर्ति, ये सब प्रतिभा के लक्षण हैं। लंबी-चौड़ी पढ़ाई के नीचे यह प्रतिभा दबकर मर जाती है।

कर्मयोग को स्थान

वर्तमान जीवन में आवश्यक कर्मयोग का स्थान रखकर ही सारा अध्ययन करना चाहिए, अन्यथा भविष्य-जीवन की आशा में वर्तमान काल में मरने जैसा प्रकार बन जाता है। शरीर की स्थिति पर कितना विश्वास किया जाता है, यह प्रत्येक के अनुभव में आनेवाली बात है। भगवान् की हम सब पर अपार

कृपा ही समझनी चाहिए कि हममे वह कुछ-न-कुछ कमी रख ही देता है। वह चाहता है कि यह कमी जानकर हम जाग्रत रहें।

निश्चित दिशा

दो विन्दुओ से रेखा का निश्चय होता है। जीवन का मार्ग भी तो दो विन्दुओ से ही निश्चित होता है। हम है कहाँ, यह पहला विन्दु, हमे जाना कहाँ है, यह दूसरा विन्दु। इन दो विन्दुओ का तय कर लेना जीवन की दिशा तय कर लेना है। इस दिशा पर लक्ष्य रखे विना इधर-उधर भटकते रहने से रास्ता तय नही हो पाता।

साराश यह कि गम्भीर अध्ययन का सूत्र है "अल्पमात्रा, सातत्य, समाधि, कर्मावकाश और निश्चित दिशा।"

—'जीवन दृष्टि' मे

रेखन के औजार : ४३ :

'ड्रॉइग' उर्फ 'रेखन' मूलोद्योगी पाठ्यक्रम का एक विषय है और उसे स्थान भी महत्त्व का दिया गया है। कारण उद्योग से वह भी उसी तरह दृढ सबद्ध है। किन्तु जव उस रेखन के लिए लगनेवाले साधनो की नामावली पेश हुई, तो मै घवडा उठा। रग की वट्टियाँ, ब्रश, रेखन-कागज आदि प्रत्येक छात्र के लिए लगनेवाला क्षयरोगी सामान कौन खरीदे? विद्यार्थी खरीदें, तो गाँवो के गरीव छात्रो के लिए वह सभव नही और सरकार खरीदे, तो योजना महँगी पडेगी। तव क्या किया जाय?

अन्तत मुझे स्पष्ट कहना पडा कि इस तरह का सामान कोई भी न खरीदे—न सरकार ही खरीदे और न छात्र ही। तब प्रश्न था कि रेखन के पाठ्यक्रम की योजना पूरी कैसे की जाय ?

चित्रकला कर्मयोगी हो

यह मुद्दा अच्छी तरह समझ लेने का है। चित्रकला दो प्रकार की है एक सौन्दर्य की और दूसरी उद्योग की। अथवा अधिक परिष्कृत भाषा मे कहा जाय, तो एक भक्ति की है और दूसरी कर्मयोग की। पाठ्यक्रम मे दोनो का ही समावेश किया गया है। पर उसमे भी मेरी दृष्टि से तारतम्य रखा गया है। जीवन मे और शिक्षा मे कर्मयोग प्रधान है, यह भुलाया नही जा सकता। भक्ति उस कर्मयोग की शोभा है और ज्ञान उसीकी प्रभा। साधारणत मूलोद्योग की यही विचार-सरणी है और रेखन के बारे मे भी वह उसी तरह लागू होती है।

कताई, बुनाई, बढईगिरी आदि सभी उद्योग और लेखनादि कलाएँ जिस रेखन की मदद चाहती है, वही मुख्यत कर्मयोगी-रेखन है। इसमे विभिन्न आलेख तैयार करना, नक्शे पर से अमुकगुने आकार का नक्शा तैयार करना, किसी नवीन मोढिये के दिखाई पडने पर उसे प्रत्यक्ष या स्मृति के आधार पर रेखांकित करना या उससे सम्बद्ध कोई कल्पना सूझे, तो उसे चित्र में अंकित करना आदि लिखित, रेखांकित, दृष्ट, स्मृत और कल्पित सभी रेखनो का अन्तर्भाव हो जाता है।

पटिया-पेन्सिल प्रमुख साधन

इस कर्मयोगी-रेखन के लिए विशेष साधन नही चाहिए। बहुत-सा तो साधारण पटिया-पेन्सिल से भी हो सकता है। कुछ के लिए कागज लगेगा, तो उसका कम-से-कम उपयोग किया जाय। जिसे 'ड्रॉइग पेपर' रेखन का कागज कहते हैं, उसकी प्राय कतई आवश्यकता नही। रवड का उपयोग करने जैसा गन्दा कोई काम नही। उसे पूर्णत वर्जित मानना चाहिए। पहले पटिया पर हाथ पूरा जमा करके ही वहुत आवश्यक होने पर कागज हाथ में लिया जाय। रूलदार कागज आलेख के लिए और अन्य ड्रॉइग पेपर चित्रकला के लिए लगता है। उन्हे भी सीधा वना-वनाया न खरीदा जाय, वल्कि छात्र ही उन्हें रूलदार वना लें। यह भी रेखन-कला का एक अग ही समझा जाय। ऐसी दृष्टि रखने से उद्योग, कला, ज्ञान, आनन्द और स्वावलवन एक साथ सघ जाता है और साधनो के जजाल में नहीं पडना पडता।

रगीन चित्रकला

परन्तु कर्मयोगी-रेखन मुख्य मान लेने पर भी उसी सिलसिले मे सौंदर्य का रेखन भी आवश्यक है। कर्मयोग की शोभा के लिए उसकी आवश्यकता है, उसके लिए तरह-तरह के साधन लगेंगे ही। फिर उनके लिए क्या किया जाय ? यह प्रश्न शेष ही रहता है। हाँ, उसीके उत्तर के लिए यह लेख लिखा गया है और उसी पर हम आगे विचार करेंगे। वीच मे थोडा तारतम्य देख लिया गया।

रंगपंचमी का दृष्टांत

दूसरे अन्य गाँवो की तरह हमारे पवनार मे भी रगपचमी मनायी गयी। हमारे परिश्रमालय के बच्चो ने भी गाँव की रीति के अनुसार उसमे भाग लिया। बाजार से रग खरीदकर एक-दूसरे के कपडे खराब किये। बाद में साबुन लगाकर, वह साबुन भी बाजार से ही खरीदा था, उन कपडो को धोना पडा। फिर भी वह रग मिटता ही न था। गाँव के अन्य लोगो के लिए कपडे धोने का प्रपच न था, कारण परिश्रमालय के बच्चो को प्राप्त स्वच्छता की इन्द्रिय उन्हे प्राप्त न थी। मैने उन बच्चो से कहा "रग खेलने मे समय बिताने के बारे मे मै कुछ नही कहता। पर रंग और साबुन में पैसा बहाकर क्या किया? इतना करके भी क्या पाया? सच्चा आनन्द तो मिला ही नही। केवल 'मुफ्त का चन्दन घिस मेरे लल्लू' वाला हाल किया। उसके बजाय काम समाप्त होने पर शाम को नदी के किनारे-किनारे दो मील चले जाते, तो मानो तुम्ही लोगो के लिए फूले हुए पलाश के पेड तुम्हे दिखाई पडते। तुम लोग उन फूलो से रग बना सकते थे और वह रग बने-बनाये बुकनी के रग से कही अधिक सौम्य एव आह्लाद-दायक होता और उसे साफ करने मे भी इतनी अडचन न पडती। अब तुम्ही बताओ कि मेरा बताया हुआ यह उद्योग अधिक आनन्ददायक होता या तुम लोगो ने किया सो उद्योग?" बच्चो ने एक मत से मेरे सुझाव को अच्छा बताया।

प्रकृति को गुरु बनाइये

रगपचमी की इस कहानी मे सौदर्य-चित्रण के प्रश्न का उत्तर

मिलेगा। छात्रो के चारो ओर प्रकृति खडी है। उस प्रकृति के साथ एकरूप हो उसके द्वारा आनन्द-प्राप्ति और आनन्द-शुद्धि साध लेना ही सौन्दर्य-रेखन का उद्देश्य है। छात्रो के आसपास की जो प्रकृति उनके इस सौन्दर्य-चित्रण के लिए विषयो की पूर्ति करेगी, वह अगर उनके साधनो की पूर्ति मे समर्थ न हुई, तो ईश्वर की कला ही क्या रही? बच्चो के पेट मे भूख लगते ही माता के स्तनो मे दूध ला देने की उसकी योजना हमारे ध्यान मे क्यो नही आती? आसपास के पेड हमारे लिए अच्छे ब्रश और उत्तम रगो की पूर्ति कर सकते है। साथ ही चित्रण का विषय भी उनमे भरा हुआ है। प्रकृति तो कामधेनु-सी है। वह दूध तो देती ही है, उसे पीने के लिए कटोरी भी देती है। केवल माँगने की ही देर है।

"आनन्द-प्राप्ति" और "आनन्द-शुद्धि" यह दुहरा उद्देश्य ध्यान मे रखने योग्य है। आनन्द तो प्राणिमात्र को उपलब्ध है। अधिक क्या, वह तो आत्मा का स्वरूप ही है। मुख्य प्रश्न तो उस आनन्द को विशुद्ध बनाने का है।

बचपन की दीवाली

मेरा बचपन कोकण के पहाडो से घिरे एक गाँव मे बीता है। प्राय हर दीवाली को मुझे याद आता है कि उस गाँव मे हम लोग दीवाली मे दीपक कैसे जलाते थे। उसके लिए जगल में जाकर कोराटी के सहज गोल फल बीन लाते और उन्हे आधो-आध काट भीतर का गूदा निकाल फेकते, तो कैसी सुन्दर परई बन जाती। पर वह मारवाडी लोटे की तरह बे-पेदी की होती।

मारवाडी लोटे को मारवाड की रेती की बैठकी तैयार करनी पडती। उस पर दियरियो के विराजमान होने पर उनमे कोकण का शुद्ध स्वदेशी गरी का तेल भरा जाता। कोकण मे रूई दुर्लभ होने पर देवकपास हम लोगो की वत्तियो का काम पूरा कर देती। इस तरह हम लोगो के दीपक तैयार होते। फिर वे चतुष्कोण, त्रिकोण और वर्तुलाकार सुन्दर पक्तियो मे सजा दिये जाते। बस, हो गयी हम लोगो की दीवाली। दीवाली याने चार महीनो की बरसात के बाद पहली निरभ्र अमावस्या। अपने दिव्य वैभव के साथ पूर्ण प्रकट हुई रजनी देवी। चन्द्र के साम्राज्य को मिटा परस्पर सहकारिता से सौन्दर्यनिर्माणार्थ सजी हुई छोटी-बडी स्वायत्त तारिकाएं और उनकी वे आकृतियाँ। अगर हम लोग अपने इन दीपको से सजाये होते, तो अमा का स्वराज्य और भी अधिक रगत लाता। पर यह कल्पना उस समय नही सूझी, इस-लिए उतनी कमी रह ही गयी।

दीवाली का दूसरा दृश्य

यह चालीस साल पहले का पुराना ग्रामीण सस्मरण है। अब दूसरा नया सुधरा हुआ ग्रामीण दीवाली का सस्मरण सुनिये। खादी-कार्य देखने के लिए मै एक बार सावली गया था। दीपावली का दिन था। सावली के बच्चो ने जस्ते के पतरे से बनी मिट्टी के तेल की बिना कॉच की चिमनियो को पक्तिवद्ध रखकर दीवाली मनायी। मिल की चिमनी से या सिगरेट फूंकनेवालो के मुंह से जिस तरह धुएँ के अम्बार निकलते है, उसी तरह उनसे धुएँ के अम्बार निकलते रहे। बेचारे बच्चो को दीवाली

का आनन्द मिल ही गया। इसमे उनका क्या दोष? अंग्रेजी सुधार की कीमिया क्या मामूली है? कहावत है "देव की करनी, नारियल में पानी। अंग्रेजो की करनी, बबे मे पानी।"

सच्चा समन्वय

पर शिक्षक कहते है कि "आनन्द-शुद्धि की यह मीमासा तो ठीक है, पर आपके कथनानुसार कूंचे तैयार करने, फूलो और पत्रो से रग बनाने का मतलब यह होगा कि काम और भी बढ जायगा। फिर बाकी के ज्ञान की व्यवस्था कैसे हो सकेगी?" पर यह आक्षेप समवाय-पद्धति का ठीक-ठीक स्वरूप न समझने के कारण ही किया जाता है। यह प्रश्न ठीक वैसा ही है, जैसे कोई कहे कि 'अन्न काफी पैदा हो जाय, तो भूख का क्या होगा?' यह प्रश्न इतना सरल है कि उत्तर देने की भी जरूरत नही और इतना कठिन भी है कि उसके लिए प्रत्यक्ष वैसी पाठशाला चलानी पडेगी।

यहाँ मूलोद्योग के पाठ्यक्रम के दो उद्देश्य—'उद्योग-सिद्धि' और 'आनन्द-शुद्धि' बतलाना अभीष्ट था, जो साधनो के विचार के सिलसिले मे बता दिया।

—'सिंहावलोकन' से

चित्रकला की दृष्टि : ४४ :

संगीत और चित्रकला के उद्देश्य

कुछ दिन पूर्व बालकोबा ने मुझसे पूछा था कि "सगीत और चित्रकला के उद्देश्य क्या है?" मैने उसे उत्तर दिया कि

"इस दुनिया में भगवान् के नाम और रूप, ये ही दो गुण प्रकट हुए हैं, बाकी ईश्वर तो अव्यक्त ही है। इन गुणों में संगीत द्वारा उसका नाम गाया जाय और चित्रकला द्वारा उसका रूप चित्रित किया जाय।"

हमारी शिक्षा के पाठ्यक्रम में पहली कक्षा में ही चित्रकला को स्थान दिया गया है। हम लोग उद्योग द्वारा शिक्षा देने की जो बात सोचते हैं, उसमें बिना चित्रकला के काम चल ही नहीं सकता। पर चित्रकला और चित्रकला की दृष्टि में अन्तर है। चित्रकला की दृष्टि जिसे प्राप्त है, वह व्यक्ति व्यावहारिक जीवन में बेढगा व्यवहार नहीं करेगा। छात्रों में चित्रकला की ऐसी दृष्टि आनी चाहिए। चित्रकला में बच्चों को सिर्फ उंग-लियों को मोड लगना ही काफी नहीं, उनके नेत्रों को भी चित्रकला में दक्ष रहना चाहिए। छात्र तनकर बैठे हैं या नहीं, कवायद में समानान्तर खडे हैं या नहीं, खाने के लिए सीधे पंक्तिबद्ध बैठे हैं या नहीं, इन सब बातों में भी चित्रकला है।

नीबू कैसे चीरा जाय, यह भी चित्रकला का विषय है। नीबू बराबर आडा काटना चाहिए। कारण उसमें से बीज और रस सरलता से निकाला जा सकता है। इसी तरह सन्तरे कैसे खाये जायँ? उसके छिलकों की बराबर दो कटोरियाँ बनायें, जिनमें सन्तरा खाने के बाद शेष सीठी डाली जा सके। पपीता खडा न काटकर आडा काटना चाहिए, जिससे उसकी भी दो कटोरियाँ बन जायँ। केला भी पूरा नहीं, थोडा-थोडा छीलकर खाना चाहिए। अगर सारा छिलका निकाल डाले, तो हाथ गन्दे हो जायगे। ऐसे और भी उदाहरण देने में

आयेगे। व्यवस्थितता और सौदर्य-दृष्टि चित्रकला का विषय है।

इन दिनो कुछ लोग सिर पर काली टोपी पहने दीख पडते है, किन्तु हिन्दुस्तान के लोग पहले से ही काले होते है। उनका चेहरा काला, वाल काले और टोपी भी काली—याने मनुष्य विलकुल कौआ जैसा वन जाता है। सौन्दर्य प्रकट करने के लिए तरह-तरह के रगो का मिश्रण अपेक्षित होता है। विभिन्न रगो से विभिन्न प्रकार की भावनाएँ प्रकट होती है।

शुभ्र सफेद रग पवित्रता का द्योतक है और लाल-गुलावी रग प्रेमदर्शक। गुलावी ऊषा परमेश्वर का प्रेम ही है। सुवह की ऊपा प्रभात मे वच्चो को जगानेवाली माँ का प्यारा और उद्वोधक स्वरूप है। किसी भी कवि या चित्रकार का काम ऊषा-दर्शन के विना चल ही नही सकता।

और वह आकाश-दर्शन! चित्रकला भला उसे कैसे भुला सकेगी! रात्रि-काल में वह गुरु, वह शुक्र कितना चमकीला दीखता है! उन्हे देखकर मन मे कितनी पवित्र भावनाएँ उठती है! 'शुक्र' शब्द भी शुचि से वना हुआ है। इन तारो के आगे मोती आदि भी, जिन्हे हम साँस रोककर समुद्र मे डुवकियाँ लगाकर निकालते है, तुच्छ मालूम पडते है। तुलसीदासजी ने रामराज्य का वर्णन करते हुए लिखा है कि रामराज्य मे समुद्र स्वय ही किनारे पर मोती फेंक जाता था। पर मुझे लगता है, उन्हे एक और चौपाई लिखनी चाहिए थी कि किनारे पर के मिले उन मोतियो को वच्चे खेलने के लिए ले जाते और खेलते-खेलते उन्हें फिर से समुद्र मे फेक देते थे। इससे मोतियो का उचित

मूल्य दिखाया गया होता। आज सुन्दर पानीदार मोती हो, तो हम उसका मूल्य पैसो मे आँकने लगते है। पैसे से सौन्दर्य की तुलना निरा गँवारूपन है।

चित्रकला मे प्रकृति का दर्शन अनिवार्य है। मनुस्मृति मे बताया गया है कि सुबह उठने के बाद मुँह-आँखे धोये बगैर नक्षत्रो का दर्शन न करें। नक्षत्रो का इतना पावन सौंदर्य ऐसी अमगल आँखो से कैसे देखा जाय?

रगवल्ली (रागोळी) की कल्पना भी मनुष्य ने नक्षत्रो पर से सोच निकाली है। रगवल्ली बनाने का नियम यह है कि पहले बिंदी-बिंदी बनायी जायँ, फिर उन्हे एक-दूसरे से जोडकर अभीष्ट आकार दिया जाय। स्पष्ट है कि यह कल्पना आकाश के तारो पर से ही निकली है। हम उसमे कल्पना से आकार भर देते है। और दीवाली का भी उद्देश्य क्या है? आकाश की चित्रकला को नीचे जमीन पर अकित करना ही तो है। दीवाली याने आकाश के धुल जाने के बाद की अमावस्या। 'कोजागरी', शरद् पूर्णिमा याने आसमान के धुल जाने के बाद की पहली पूर्णिमा। ये दोनो उत्सव मनाने का उद्देश्य आकाश-दर्शन की ओर लोगो का ध्यान आकृष्ट कराना ही है। इसलिए अगर दीवाली मे दीपक लगाने हो, तो नक्षत्रो के आकार के, छोटे-बडे, तरह-तरह की छटा दिखानेवाले ही दीपक लगाने चाहिए।

व्यवर्तक चित्रकला

किसी भी वस्तु के सामान्य और विशेष धर्म चित्रकला द्वारा प्रकट होने चाहिए। सामान्य-विशेष के पेट मे ही गौण

और मुख्य का भेद भी आ जाता है। मनुष्य का चेहरा ऐसा भाग है कि केवल उतना ही चित्रित किया जाय, तो आदमी पहचाना जा सकेगा। अगर हाथी दिखाना हो, तो केवल सूँड चित्रित कर देने पर भी काम चल जाता है। इसीको शास्त्र में "व्यावर्तक व्याख्या" कहते है। व्यावर्तक का अर्थ है दूसरी वस्तुओ से उस वस्तु को अलग करनेवाला। उन्होने वैल की ऐसी व्याख्या की है "विपाण कुकुभ्याम्"—सीग और डीलवाला। अव आप दुनिया मे चाहे चितने जीव ढूंढ डालिये, सीग और डील-युक्त प्राणी सिवा वैल के दूसरा कोई नही दीखेगा।

स्मृति के आधार पर चित्रकला

दूसरी वात है, 'मेमरी ड्रॉइग' की। यदि कोई चीज कहीं देख लें, तो वाद मे उसे ठीक चित्रित कर लेना आना चाहिए। देखे हुए यन्त्र, देखी हुई इमारत या दी हुई चीज का चित्र खीचना आना चाहिए।

सृष्टि मे कही-कही दृष्टिभ्रम होता है, उसे भी चित्र में ठीक-ठीक प्रकट कर दिखाना चाहिए। रेरवे लाइनो का चित्र वनाना हो, तो सिर्फ सीधी और समानान्तर लम्वी-लम्वी दो पटरियाँ बना देने से काम न चलेगा। हमें वे जैसी दीखती है, उसी तरह चित्रित करना चाहिए कि आगे चलकर दोनो पास-पास आकर मिली हुई जान पडती है। इसी तरह दो नक्षत्रो के वीच उनके उगते, समय अधिक अन्तर दीख पडता है और सिर पर आने पर वह अन्तर कम हो जाता है। सूर्य की भी यही वात है। वह उगते समय वडा दीखता और फिर छोटा होने लगता

है। अस्त के समय पुन वडा दीखता है। ये ही सव चमत्कार सृष्टि मे दिखाई पडते हैं, पर ये सव चित्र मे प्रकट होने चाहिए।

साकेतिक चित्रकला

छात्रो को साकेतिक चित्रकला भी आनी चाहिए। मान लीजिये, हम लोग किसी वगीचे मे गये, तो वहाँ सभी पेड व्यवस्थित रूप से वाकायदा लगाये दीखते हैं। उनकी शाखाएँ आदि छँटी होती हैं। उन्हे देखकर हमें आनन्द होता है। उसी तरह जगल मे जायँ, तो वहाँ तरह-तरह के ऊँचे-नीचे, छोटे-वडे वेतरतीव वृक्षादिको की शोभा, वहाँ की निसर्ग रमणीयता देखकर भी आनन्द होता है। प्रश्न होता है कि यह कैसे? व्यवस्थित उद्यान की शोभा देखकर आनन्द और निरकुश वनश्री भी देखकर आनन्द! आखिर दोनो से आनन्द क्यो? इसका कारण यह है कि उद्यान मे ईश्वर की व्यवस्थितता का गुण प्रकट हुआ है और वन मे ईश्वर की स्वच्छता का गुण प्रकट हुआ है। चित्रकार की दृष्टि मे यह वात आनी चाहिए।

पाश्चात्यो ने न्याय-देवता का साकेतिक चित्र इस रूप मे दिखाया है कि एक अधी स्त्री तराजू की डाडी पकडकर वैठी हुई है। अव यदि कोई पूछे कि क्यो जी, क्या न्याय-देवता को अन्धी के ही रूप मे होना चाहिए? न्यायाधीश को स्त्री ही क्यो वनाया? पुरुप वनाने से क्या काम नही चल सकता था? और तराजू की डॉडी यदि पहले से ही सीधी पकडी हुई दिखाई गयी, तो न्यायाधीश की आवश्यकता ही क्या रह जाती है?

न्याय-देवता को अन्धी के रूप में दिखाने का सकेत यह है कि अन्धा आदमी छोटे-वडे का कोई भेद नही देखता। वह निष्पक्ष रहेगा। अत यहाँ अन्धेपन का अर्थ है, पक्षपातशून्यता। न्याय-देवता को स्त्री-रूप देने का सकेत यह है कि स्त्रियाँ स्वभावत दयालु होती हैं। इसलिए न्याय देते समय भी दयालुता रहनी चाहिए। तराजू की डाँडी सीधी पकडने का सकेत यह है कि न्याय में चोखापन होना चाहिए। इस तरह इस साकेतिक चित्र मे न्याय के आवश्यक तीन मुद्दे (१) निष्पक्षता, (२) दयालुता और (३) खरापन दिखाये गये है।

दत्तात्रेय के तीन मुख है। तीनो मुखो को एक स दिखाने की चाल है। किन्तु उनमे बीच का मुख सात्त्विक याने बिलकुल साफ-सुथरा, सुन्दर, स्वच्छ, दूसरा तामस याने मैला-कुचैला, नीद से भरा और तीसरा उत्साह, आवेश और पराक्रम से पूर्ण रजोगुणयुक्त होना चाहिए। तभी वह उनका सच्चा चित्र बनेगा और इन तीन मुखो के तीन गुणो का सकेत प्रकट होगा। हिन्दुओ की मूर्तिपूजा मे साकेतिक चित्रकला भरी पडी है।

कही उत्सव-समारोह हो, तो स्वागत के लिए मिट्टी का घडा जल से ऊपर तक भरकर रखा जाता है। उसे पूर्णकुभ कहते है। आखिर वह किसलिए ? इसीलिए कि स्वागत के लिए हृदय प्रेम से परिपूर्ण है, इस बात का उसमें सकेत है। घडा चाहे मिट्टी का हो, चाहे सोने का, पर अन्य किसी धातु का नही। सोने के घडे से वैभव व्यक्त होता है। याने स्वागत मे अपना वैराग्य या वैभव प्रकट होना चाहिए। यही उस पूर्णकुभ का सकेत है।

अग्रेज लोग किसीके आने पर टोपी उतारते है, तो हमारे

यहाँ के लोग उसे पहन लेते हैं, आखिर ऐसा अन्तर क्यो ? उनका देश ठढा है, इसलिए वहाँ टोपी उतारने से अतिथि के लिए कुछ-न-कुछ कष्ट सहने की अपनी तैयारी दिखाना है। हमारा देश गरम है। यहाँ टोपी लगाकर हम अतिथि के लिए कष्ट सहने की तैयारी दिखाते है। तुलसीदासजी ने भरत-राम-मिलन के प्रसग में बताया है कि उस समय राम धनुष-वाण आदि विना लिये हुए वैसे ही उठकर खडे हो गये—"कहुँ पट कहुँ निपग धनु तीरा" कहकर इस वर्णन में राम की भरत से मिलने की आतुरता का दर्शन कराया गया है।

दुनिया में कुछ चीजें सूक्ष्म, तो कुछ विपम होती है। उन्हें ठीक से दिखाना भी चित्रकला का एक अग है। सूक्ष्म की ओर विशिष्ट दृष्टि से याने मध्यभाग की ओर विशेष ध्यान देते हुए देखना पडता है। लपेटा दोनो वाजुओ से समान है याने दोनो वाजुओ से सूक्ष्म है, चौरस चारो प्रकारो से सूक्ष्म ह। वर्तुल सव ओर से सूक्ष्म है, कारण सभी वाजुओ से उसके समान भाग किये जा सकते है। वस्तु की सूक्ष्मता के प्रकार वच्चो को वनाने आन चाहिए। आजकल वच्चो को कोई भी सूक्ष्म चित्र वनाना होता है, तो 'उसमें का आधा भाग देखकर वाकी उनसे वनवा लेते है। साधारणत दाहिना भाग देखकर वायाँ उनसे वनवाते है। पर इसके विपरीत वायाँ देखकर दाहिना भी वनवा लेना चाहिए। जिस तरह हम वच्चो को दाहिने हाथ से चित्र वनाना सिखलाते है, उसी तरह वाये हाथ से भी चित्र वनाना सिखाना चाहिए।

—महिलाश्रम के शिक्षको के समक्ष किया गया व्याख्यान

एक बेसिक ट्रेनिंग कॉलेज में : ४५ :

(चर्चाओ के आधार पर)

[विनोबाजी ने आज एक कॉलेज का निरीक्षण किया। कताई, धुनाई, तुनाई चल रही थी। विनोवा कातने वैठ गये। व्याख्यान देने की अपेक्षा इस तरह के प्रात्यक्षिक में ही उनको अधिक रस आता है। लेकिन जब वे चलने लगे, तो लोगो ने 'उपन्यास' की माँग की। 'उपन्यास' तेलुगु में व्याख्यान को कहते है। विनोबाजी ने कहा "आप लोग अपना वर्ग लीजिये, मै देखूंगा।" ट्रेनिंग के लिए आये हुए शिक्षक-छात्रो का वह वर्ग था।

विनोबाजी ने कक्षा का निरीक्षण किया। उसमें पूनियो से गिनती सिखाने का 'अनुवध' वताया गया था। अक्सर शिक्षक ऐसा ही करते है। "आप लोग पूनियो से गिनती सिखाते हैं, तो पत्थरो का ही उपयोग क्यो नही कर लेते ? इससे पूनियाँ खराव हो जाती हैं। इस तरह का अनुवध हास्यास्पद हो जाता है। हर बात को सिखाने के लिए मौका देना, उद्योग का केवल इतना ही काम है। वाकी सिखाना तो अपने ढग से होना चाहिए। कातते समय अपनी-अपनी पूनियाँ गिनकर कातने को वैठना, इतना ही स्वाभाविक अनुवध है।"

पाठ्य-पुस्तको के वारे में उन्होने अडचन दिखायी। परन्तु पूछा, तो मालूम हुआ कि कृष्णदासभाई की 'कताई-गणित' किताव का इन लोगो को पता नही है। विनोवाजी ने कहा कि "या तो आप लोग जल्द-से-जल्द हिन्दी सीखकर इन किताबो

को हिन्दी में पढ़िये या फिर इनका अनुवाद करवा लीजिये। परन्तु बुनियादी साहित्य से अपरिचित रहकर बुनियादी तालीम का काम आप कैसे करेंगे ?"

[इसके बाद कॉलेज के शिक्षको से चर्चा हुई। उन्होने अपनी दिक्कतें और शकाएँ विनोबाजी के सामने रखी।]

प्रश्न—अनुबध-पद्धति की कोई किताबे नही हैं। पढायें कैसे ?

विनोबा—ठीक सवाल पूछा। पुस्तके अनुभव से बनेगी। लेकिन जो बन चुकी है, वे भी आप नही पढते। अनुबध-पद्धति का मुख्य सार अभी यही समझो कि जो ज्ञान उद्योग के साथ नही दिया जा सकता, उसका लोभ छोड देना है।

प्रश्न—लेकिन फिर इसमे विज्ञान की पढाई कैसे होगी ?

उत्तर—जरूर होगी। लडका खेती करेगा, कपडा बुनेगा, खाना खायगा, बीमार पडेगा, सब उसके लिए ज्ञान के साधन है, उसमें सारा विज्ञान आ जाता है।

प्रश्न—क्या बुनियादी योजना डाल्टन, किंडरगार्टन और मॉंटेसरी का सुधारा हुआ रूप है या कोई स्वतत्र योजना है ?

उत्तर—बुनियादी योजना किसी योजना का सुधारा हुआ रूप नही है। वह स्वतत्र और विशिष्ट योजना है। दूसरी योजनाएँ लडको को कोई उपजाऊ धधा नही सिखाती। नयी तालीम देश का उत्पादन बढाती है, छात्र को स्वावलबी बनाती है और ज्ञान भी देती है। यह पद्धति हमे हिन्दुस्तान की परिस्थिति में से सहज सूझी है। उद्योग द्वारा शिक्षण का विचार मान्य

करते हुए भी दूसरी पद्धतियो ने आजीविका सपादन द्वारा शिक्षण सिद्ध नही किया है, इतना हम देखते हैं।

प्रश्न—क्या शिक्षको को पुरानी पद्धतियो का ज्ञान कराना आवश्यक है ?

उत्तर—आवश्यक तो नही है, पर उपयुक्त हो सकता है। क्या गणित सिखाने के लिए आज हम भास्कराचार्य की लीलावती पढाते हैं ? लेकिन लीलावती के ज्ञान से शिक्षक को ऐतिहासिक दृष्टि आ सकती है।

प्रश्न—इतिहास की पढाई में कालक्रम के सिद्धात को आप मानते हैं ?

उत्तर—कालक्रम बाद मे आ सकता है। पहले बच्चो को सारे विचार-प्रवाह का सर्वसामान्य ज्ञान हो जाना चाहिए।

बुनियादी तालीम में और चालू पद्धति में एक मूलभूत फर्क है, जो हमें समझ लेना चाहिए। हमे बच्चो को इतिहास, व्याकरण और गणित नही सिखाना है, हमे तो उन्हें जीवन सिखाना है—उन्हे कार्यक्षम बनाना है। शिवाजी क्या व्याकरण पढे थे ? क्या शकराचार्य ने इतिहास की किताबें पढी थी ? हमें बच्चो को पुरुषार्थशील बनाना है। उसके पीछे-पीछे और सब बातें धीरे-धीरे आ जायँगी।

प्रश्न—क्या बडे होने पर बच्चो को ये दस्तकारियाँ काम आ सकती हैं, जब देश में यन्त्रीकरण हो तो ?

उत्तर—आपका सवाल शैक्षणिक नही, आर्थिक है। इसकी बहुत चिता नही करनी चाहिए। रूस में यन्त्रीकरण है, फिर भी प्राथमिक शालाओ में छोटे-छोटे उद्योगो द्वारा शिक्षण दिया जाता

है। शिक्षण बच्चे की शक्ति के विकास के लिए और शक्ति के अनुसार दिया जाता है। उस दृष्टि से हर हालत में दस्तकारियाँ याने हाथ के उद्योग ही पसंद करने पड़ते हैं।

प्रश्न—क्या श्रेणियों के अनुसार शिक्षण-क्रम आपको पसंद है ?

उत्तर—पहले स्थूल ज्ञान, पीछे सूक्ष्म ज्ञान—ऐसा क्रम मुझे पसंद है। पहले इस टुकड़े का, पीछे उस टुकड़े का ज्ञान देना मुझे पसंद नहीं। आपके पाठ्यक्रम में तीसरे दर्जे में मद्रास प्रान्त और चौथे में भारत का भूगोल रखा है। पर इसी बीच यदि बिहार में भूकंप हो, तो क्या तीसरी श्रेणी के बच्चों को बिहार कहाँ है, सो नहीं बतावेंगे और मद्रास ही बताते रहेंगे ?

प्रश्न—लेकिन इन बेचारे शिक्षकों में इतनी सूझ कहाँ ?

उत्तर—सूझ नहीं, तो शिक्षक क्यों हुए ?

प्रश्न—नयी तालीम में कविता के लिए स्थान रहेगा या नहीं ?

उत्तर—यथावसर होगा। गांधी-जयंती के प्रसंग में 'वैष्णव जन' का गीत आयेगा। प्रह्लाद का तो सारा चरित्र ही कविता में सिखाया जा सकता है।

प्रश्न—नयी तालीम का माध्यम मातृभाषा होगा या देश-भाषा ?

उत्तर—उसके लिए दोनों का ज्ञान अनिवार्य होगा। परन्तु पढ़ाई का माध्यम तो प्रान्त-भाषा ही होगा।

प्रश्न—आपने हर बात के लिए अवसर की आवश्यकता बतायी, लेकिन किसी प्रसंग पर विद्यार्थी गैर-हाजिर रह जाय, तो फिर वह उस शिक्षण से वंचित ही रह जायगा ?

उत्तर—सात-आठ वरसो की अवधि में ऐसा कौन-सा प्रसग होगा, जो एक से अधिक बार नही आवेगा ?

[कोमारवोलु आश्रम में छोटी-छोटी लडकियाँ मिलने आयी, जो हिन्दी विल्कुल ही नही जानती थी, तो आध घण्टा वे उनसे बोलते रहे। उन्हें उतनी देर में हिन्दी में दस तक अक गिनना, अपना नाम बताना तथा दूसरो का नाम पूछना सिखा दिया।]

वीरवर्म में विनोबा से एक प्रश्न पूछा गया कि "जिस गति से आज नयी तालीम चल रही है, उस गति से क्या आप मानते हैं कि वह प्रलयकाल तक भी पूरी हो सकती है ?"

विनोबा ने उत्तर दिया इस प्रश्न के पीछे मन की एक भूमिका है कि सरकार द्वारा ही व्यापक काम हो सकता है। मै भी मानता हूँ कि सरकार द्वारा व्यापक काम होगा। लेकिन सारा-का-सारा शिक्षण सरकार को सौप देने की मेरी तैयारी नही है। फिर तो सरकारी शाला एक साँचा वन जायगी। स्वतत्र बेसिक शाला चलाने का प्रयोग होना चाहिए। मुझे नम्रतापूर्वक आपसे कहना चाहिए कि अपनी कल्पना का बेसिक स्कूल मैंने अब तक एक भी नही देखा। मै नयी तालीम का शास्त्र अच्छी तरह जानता हूँ, फिर भी मै उसका स्कूल नही चलाता, घूमता रहता हूँ। यही हाल दूसरो का है। फिर यह काम कैसे होगा ? जो लोग इस काम को अच्छी तरह जानते है, वे इसे ही लेकर बैठ जायेंगे और बेसिक की आदर्श पाठशाला चलायेंगे, तभी नयी तालीम का सही दर्शन हो सकेगा। अपने वारे में तो मै यही कहूँगा कि मैंने इसका कुछ प्रयोग किया है और उसका नतीजा

भी समाधानकारी हुआ है, लेकिन वह प्रयोग छोटे बच्चो की बुनियादी तालीम का नही था। उसे उत्तर बुनियादी प्रयोग कह सकते है। उसमें जो लडके तैयार हुए, वे ही आज मेरे साथ काम कर रहे हैं।

जब इस बार मै जेल से छूटा, तो मैंने सोचा था कि मेरा शायद अब एक ही काम बचा है। वह काम था, बुनियादी शिक्षण का। लेकिन भगवान् की इच्छा कुछ और ही थी। परन्तु अगर फिर से कभी स्थिर होने का योग आया, तो मै पुन जरूर इस बुनियादी तालीम के काम में ही लग जाना चाहूंगा। अभी मैं कुमारवेलु गया, तो आधा घण्टा मैंने लडकियो को पढाया। उसमें मैं इतना मग्न हो गया कि मुझे समय का भान ही नही रहा। दूसरे काम के लिए लोग मुझे ले गये और वर्ग बन्द करना पडा।

यदि आप लोगो में कोई शिक्षण के प्रेमी हो, तो वे अपना जीवन इस काम के लिए दे। हमें तो यह साबित करना है कि बुनियादी मदरसा कम-से-कम सहायता से चलता है। अगर मैं बेसिक स्कूल चलाऊँ, तो मकानो और साधनो को छोडकर सारा-का-सारा पैसा वापस कर दूंगा। हमारे मदरसे के बच्चे दूसरे मदरसो के बच्चो की अपेक्षा अधिक ज्ञानसपन्न और अधिक प्राण-सपन्न निकलेंगे। ऐसा अगर एक भी स्कूल हम चलाकर दिखा सकें, तो उसे देखने के लिए दुनियाभर से लोग वहाँ आवेंगे। जिन्होने शिक्षण के प्रयोग किये, उन्होने पांच-पचास विद्यार्थी लेकर ही प्रयोग किये थे और दुनिया ने उनकी पद्धति को स्वीकार किया।

पूर्व-बुनियादी की चर्चा : ४६ :

[बम्बई के शिशु-विहार-गृह के कुछ शिक्षक और विद्यार्थी हर साल सैर के लिए जाते हैं। इस बार वे वर्धा, सेवाग्राम, पवनार देखने आये थे। बालवाडी के सम्बन्ध में उनसे निम्नलिखित चर्चा हुई।]

प्रश्न—आज हमने जो शिक्षण-पद्धति सेवाग्राम में देखी, वह देहातो के लिए ठीक है। शहरो के बच्चो के लिए आप उसमें क्या परिवर्तन सुझायेंगे ?

विनोबा—आपको कौनसा परिवर्तन आवश्यक लगता है ? शहर और गाँव में क्या फर्क है ? दोनो जगह वे ही चाँद-सूरज हैं, माता-पिता का वातावरण भी वैसा ही है। एक जगह दीया है दूसरी जगह बिजली। बाकी खास फर्क क्या है ?

प्रश्न—शहर में यान्त्रिक वातावरण है।

विनोबा—उसमे क्या फर्क है ? एक बालक मोटर मे बैठता है, एक बैलगाडी में। एक पेट्रोल और इजन के बारे में जानकारी प्राप्त करेगा, दूसरा चक्के और बैल के बारे में। आखिर मुख्य बात यही है कि आसपास जो वातावरण होगा, उसके जरिये बालको का विकास होगा और फिर देहात-देहात में भी तो फर्क होता ही है। यहाँ का बालक ज्वार का खेत देखता है, कोकण का बालक धान का खेत देखता है। इसी तरह शहर और देहात के फर्क की ओर देखना चाहिए।

प्रश्न—देहात का लडका स्वावलबी होगा, शहरवाला नही होगा।

विनोबा—क्यो नहीं होगा? मान लीजिये कि शहर में एक हॉटेल है। वहाँ रसोई के जरिये बालक को शिक्षण दिया जाता है। हमारा उसूल तो यही है न कि आसपास के वातावरण से ज्ञान देना है। शहर और देहात, दोनो के लिए यह सिद्धान्त समान रूप से लागू है। देहात में भोजन लकडी पर पकेगा, तो शहर में कोयले पर। इससे तालीम में क्या फर्क पडा?

प्रश्न—बहुत छोटे बच्चो के काम का प्रारभ शहरो में कैसे किया जाय?

विनोबा—हमें तो उसमें कोई दिक्कत नजर नही आती। दोनो जगह पानी, हवा, प्रकाश है। इद्रियो का सम्बन्ध भी वैसा ही है। चढना-उतरना दोनो जगह समान है। एक जगह लडका टेकडी पर चढेगा, तो दूसरी जगह चौथी मजिल पर। इतना ही फर्क है न?

प्रश्न—दोनो की भूमिका एक-सी कैसे मानी जाय?

विनोबा—अगर आपने दोनो को भलाई सिखायी है, तो वहाँ शहर और गाँव की भूमिका एक ही है, दोनो का वहाँ मेल है। भूखे के लिए रोटी मुहैया करा देने की विद्या दोनो जगह समान मिलनी चाहिए। अगर तालीम ऐसी मिले कि देहात-वाले तो श्रम की कद्र करते है और शहरवाले उसके बारे में लापरवाह रहते है, तो समझना चाहिए कि यहाँ दोनो का रास्ता भिन्न हो रहा है।

प्रश्न—आप तो गाँववालो को चरखा चलाने की बात कहते है, जो शहरवालो की समझ में ही नही आती।

विनोबा—तो मै शहरवालो को क्यो कहूँगा? उस गाँव-वालो को तो कपडा पहनना है, इसलिए कहता हूँ कि कातो!

प्रश्न—कपडा तो हमे भी पहनना है न?

विनोबा—फिर आपको भी कातना चाहिए।

प्रश्न—बाल-शिक्षण में आजकल भिन्न-भिन्न पद्धतियाँ चल रही हैं। आप कौनसी ठीक समझते हैं?

विनोबा—आपको किन-किन पद्धतियो की जानकारी है?

प्रश्न—सेवाग्राम में तो नयी तालीम चल रही है। बम्बई में मॉटेसरी-पद्धति चलती है, कही-कही किंडर गार्टन भी चलती है।

विनोबा—इन सबमें क्या फर्क है; हमें समझाइये।

प्रश्न—आपको सब मालूम है।

विनोबा—हम तो यही जानते हैं कि एक सेवाग्राम-पद्धति है, एक पवनार-पद्धति है, एक वर्धा-पद्धति है, एक नागपुर-पद्धति है इत्यादि।

प्रश्न—हमारी पद्धति मे प्रश्न पूछना मना है और आपने तो अभी प्रार्थना में बालको से प्रश्न पूछ-पूछकर उन्हे सहज ही ज्ञान करा दिया!

विनोबा—तो आपको एक और पद्धति मालूम हुई, प्रश्न पूछने की। आपने देखा कि प्रश्न पूछने की भी एक पद्धति होती है, उसमें भी एक खूबी होती है।

प्रश्न—बच्चो के लिए किंडरगार्टनवाले अनेक प्रकार के आकर्षण उत्पन्न करते है।

विनोबा—क्या आप लोग आकर्षण नही उत्पन्न कराती?

प्रश्न—पर वे कृत्रिम आकर्षण निर्माण करते हैं।

विनोबा—अब 'कृत्रिम' शब्द आया! अच्छा बताइये, आप लोग बच्चो को मिठाई बाँटती है या नही?

प्रश्न—जी हाँ, बाँटती हैं। पर हम शिक्षण के लिए मिठाई नही बाँटती।

विनोबा—क्यो नही बाँटती? जो चीज सामने हो, उसके द्वारा शिक्षण देना चाहिए।

प्रश्न—हमारे कहने का मतलब यह था कि हम बच्चो को लालच नही दिखाती।

विनोबा—इसमे बुद्धि की कुशलता का सवाल है। शिक्षण-पद्धति में साधारणतया कोई खास फर्क नही होता। परिस्थिति-भेद के अनुसार वस्तु-दर्शन का भेद हो जाता है। लालच के लिए किसी तरह का वातावरण निर्माण करने या कोई चीज देने की बात तो वे भी नही कहेंगे।

प्रश्न—जिस तरह हमारे यहाँ के या सेवाग्राम के बालक आजादी मे अपना विकास साधते हुए दिखाई देते हैं, किंडर-गार्टन-पद्धति में वैसे नही दिखाई देते।

विनोबा—लेकिन अगर किंडरगार्टनवालो से आप पूछें, तो वे इसे स्वीकार नही करेंगे।

प्रश्न—हमारे यहाँ इन्द्रिय-विकास (सेन्स-डेवलपमेंट) का जो तन्त्र है, उससे सेवाग्राम का तन्त्र कुछ भिन्न है। हमें अपने यहाँ का क्रम अधिक शास्त्रीय मालूम होता है। साधन जितने व्यवस्थित होगे, उतना ही विकास ठीक होगा। लेकिन ऐसे शास्त्रीय साधनो का विदेशी के नाम पर निषेध किया जाता है।

विनोबा—तो क्या छोटे बच्चो के शिक्षण के लिए विदेशी साधनो की जरूरत पडती है ?

प्रश्न—साधन विदेशी नही, लेकिन कल्पना विदेशी है।

विनोबा—कल्पना भी कभी विदेशी-स्वदेशी होती है ? हमें एक बात का खयाल करना चाहिए कि अगर वातावरण मे कुछ साधन सहज ही मे उपलब्ध हो, तो शास्त्रीयता के नाम पर दूसरे कृत्रिम साधनो की आवश्यकता महसूस न होनी चाहिए। जिस गाँव में नदी है, वहाँ तैरने की कला द्वारा बालको का विकास क्यो नही सध सकना चाहिए ? क्या इन्द्रिय-विकास के लिए देहातो का स्वाभाविक वातावरण अनुकूल नही है ? क्या गोबर चुनना और बेर बटोरना आदि साधन नही माने जायेंगे ? क्या इन उद्योगो से ज्ञान नही दिया जा सकेगा ?

प्रश्न—उनसे हमारा विरोध नही है। पर कुछ साधनो के लिए हमारा आग्रह है। उन पर जोर देने से बालक आगे ससार में ज्यादा अच्छा काम करेगा।

विनोबा—मै आपसे एक ही सवाल पूछता हूँ। साधनहीन किसी गाँव मे आपको भेज दें, तो आप काम कर सकेंगी या नही ?

एक बहन ने कहा हाँ, कर सकेगी।

विनोबा—फिर मुझे कुछ कहना नही है। हर प्रकार के ज्ञान का आज ही परिचय करा देना चाहिए, इसकी कोई जरूरत नही। जो ज्ञान हम बच्चो को देना चाहते हैं, वह हम चाहते है इसलिए नही, बल्कि बच्चो को उसकी जरूरत है, इसलिए देते है। आँख के लिए बच्चो को प्रकाश की जरूरत है, जीभ के लिए स्वाद की, कान के लिए स्वर की। इस तरह आव-

श्यकताओ के अनुसार आवश्यक ज्ञान दिया जा सकता है।

प्रश्न—लेकिन सूक्ष्म ज्ञान के लिए शास्त्रीय साधनो का प्रयोजन है।

विनोबा—ठीक है, लेकिन शास्त्रीय साधनो के नाम पर कृत्रिमता न प्रवेश कर जाय, इस पर हमें ध्यान देना चाहिए। हार्मोनियम से स्वर का सूक्ष्म ज्ञान हो सकता है, ऐसा दावा कोई नही कर सकता। फिर भी हार्मोनियम चल रहा है। जिसे शक्कर के विना दूध पीने की आदत नही है, वह दूध का सच्चा स्वाद कैसे जानेगा? इसलिए स्वाद की दृष्टि से चीजे मूल स्वरूप मे ही खानी चाहिए। इस तरह आप सोचेंगे, तो सारा सवाल हल हो जायगा।

इन्द्रिय-विकास तो जानवरो का भी होता है। क्या उन्हे मॉंटेसरी सिखाने जाती है? शेर का एक विशिष्ट इन्द्रिय-विकास हुआ रहता है। वह और जानवरो में कम होता है। उसकी घ्राणेन्द्रिय अधिक तीव्र होती है। आपको दिखाई पडेगा कि परिस्थिति जितनी विषम होती है, इन्द्रियो का विकास उतना ही अधिक होता है। इसलिए इन्द्रिय-विकास की शक्ति कोई वडी वात नही है। नैसर्गिक जीवन से वह सहज सधती है। शिक्षण के लिहाज से आवश्यक और वडी वात है, इन्द्रियो की अभिरुचि परिशुद्ध वनाने की। कृत्रिम जीवन से इन्द्रियाँ परिशुद्ध नही होती, विगडती ही हैं। यह विगडने का काम शहर और देहात दोनो जगह चालू है। खाने-पीने में मसालो का प्रयोग दोनो जगह होता है। ऐसी और भी मिसालें दी जा सकती है।

प्रश्न—मसाले भी कुदरत ने ही वनाये हैं।

विनोबा—कुदरत ने तो गोबर भी बनाया है, पर कोई गोवर नही खाता। उसी तरह कोई बच्चा अपनी इच्छा से मिर्च नही खाता, पर मीठा फल वह सहज खा लेता है।

योग्यायोग्यता और इन्द्रिय-शक्ति-विकास अलग चीज नही हैं।

नयी तालीम और स्वावलम्बन : ४७ :

(पत्रो में से)

वेडछी से श्री नारायण देसाई लिखते हैं.

"मैं पवनार आया, तब आपसे स्वावलबन के सबध मे प्रवाह-पतित बातें हुई थी। स्वावलबन, साधन-सशोधन, समवाय तथा नयी तालीम की जीवन-दृष्टि के बारे मे हमेशा चिंतन चलता ही रहता है। आप वेडछी आये थे, तब भी कुछ बातें हुई थी।"

बापू का विचार तो ऐसा जान पडता है कि रुपये-आने-पाई म शिक्षा का चालू खर्च विद्यार्थियो के उपार्जन से निकल जाना चाहिए। आज की अर्थनीति शरीरश्रम का मूल्याकन बहुत कम करती है और आवश्यकता की अपेक्षा विलास-सामग्री मे अधिक पैसे देती है। फिर भी आज की स्थिति को लेकर ही अपने उद्योग से ही अगर हम शिक्षा का खर्च निकाल सकेंगे, तभी हम टिक सकेंगे, वरना नही, ऐसा स्पष्ट दीखता है।

कई किस्म के हिसाब करने के बाद ऐसा जान पडता है कि

प्रति ३० विद्यार्थी पर १ शिक्षक हो। उसे सामान्य शिक्षक के जितना वेतन मिले। प्रत्येक विद्यार्थी ३ घटे काम करता हो। आप लोगो ने 'जाकिर हुसेन समिति' म ३ घटे २० मिनट माने हैं। छोटे वच्चो के लिए यह अधिक होगा, ऐसा मेरा अनुभव है। इसलिए बडो का कुछ ज्यादा समय और छोटो का कम समझकर औसत ३ घण्टे माने हैं। और आम स्कूलो में औसत जितने दिन हाजिरी रहती है, उतनी हाजिरी माने (साल में काम के दिन २४० और औसत हाजिरी ७५%, इस हिसाब से प्रत्यक्ष काम के केवल १८० दिन हुए), तो वस्त्र-विद्या से पूर्ण स्वावलवन करने में निम्न कठिनाइयाँ आती है

(१) पूनी बनाने में बहुत समय लग जाता है। तुनाई से पूनी करनी हो, तो काफी समय लगता है।

(२) दुवटा करने में काफी समय लगता है। कताई के साथ-साथ दुवटा करने की क्रिया अभी काफी अटपटी है और छोटे बच्चे उसे सभाल नही सकते, इसलिए कातने के बाद सूत को अलग दुवटा करना पडता है।

(३) खादी बिकने का प्रश्न। इस प्रश्न पर 'जाकिर हुसेन समिति' ने सोचा है। सरकार ही उसे खरीदे, ऐसा आपका मत है। हम लोगो की खादी कोई बुरी नही होती। खासी अच्छी बनती है, लेकिन शुरू के बुननेवाले दुवटा और छोटे अरज का ही कपडा बुन सकते हैं, इसलिए किस्म-किस्म की खादी नही बन सकती। एक ही प्रकार की बनती है। इसलिए उसे सरकार क सिवा दूसर को बचना आसान नही है।

हम लोग तो बच्चो को खादी दे देते हैं, अत हमारे लिए पहले दो प्रश्न ज्यादा महत्त्व के हैं

(१) धुनकी दाखिल करे ?

(२) अनेक रीलो के दुवटने का यत्र दाखिल करे ?

रुपये-आने-पाई मे खेती वगैरह दूसरे कामो से मजदूरी काफी मिल जाती है, लेकिन वैसे काम देहातो में पूरे समय के लिए सब बच्चो को मिल नही सकते।

पत्र का उत्तर

तुम्हारा पत्र मिला। तुम्हारे प्रश्नो का पहले उत्तर देता हूँ।

अनेक रीलो के दुवटने के साधन का उपयोग कर सकते है। लेकिन धनुष-तुनाई छोडकर ताँत दाखिल नही करनी चाहिए।

पैसे के हिसाव मे नही पडना चाहिए। पैसा किस तरह वदमाशी करता है, उसकी एक मिसाल इस महीने की 'सर्वोदय-दृष्टि'[1] मे दी है।

नयी तालीम की शाला कताई से शिक्षक और विद्यार्थियो के कपडे की अपेक्षा रखेगी। अन्न के लिए भूमि का आधार रहेगा। पानी कुएँ से मिलेगा। कुएँ से कपडा, कताई से रोटी और खेती से पानी प्राप्त करने की आशा नही रखनी चाहिए। मने तो नयी तालीम के शिक्षक को सर्वतत्र-स्वतत्र बना दिया है। वने-

[1] सितम्बर '५० के 'सर्वोदय' में प्रकाशित 'सर्वोदय की दृष्टि' स्तम्भ में 'पैसे की करामात', पृष्ठ १११।

बनाये किसी पाठ्यक्रम का बधन उसे स्वीकार करने की जरूरत नही।

साल मे काम के दिन भगवान् ने मेरे लिए तीन सौ पैंसठ दिये हैं। जितने दिन खाने के, उतने दिन काम के—यह भी गलत सूत्र होगा, क्योंकि खाना हम छोड भी सकते है, लेकिन कर्मयोग छोडने का शरीरधारी के लिए प्रसग ही नही है। कर्म करते-करते १०० साल जीना हैं। कर्म में से व्यायाम, कर्म मे से ज्ञान, कर्म मे से आनद, कर्म ही यह सब, कर्म ही खेल। यह है समवाय।

स्कूल तो दिन में, रात मे, उष काल मे और सायकाल मे, हर समय चलेगा। तब स्वावलवनयुक्त शिक्षण-प्रक्रिया कैसी होती है, इसका अनुभव आयगा। मेरे पास विद्यार्थी इसी तरह सीखे। मेरा निज का शिक्षण भी पिछले ३४ साल से इसी तरह चल रहा है। एक भी दिन कर्म-शून्य नही जाता और हर रोज ज्ञान की नयी-नयी शाखाएँ खुलती ही जाती है।

नयी तालीम के फुफ्फुस : ४८ :

(एक पत्र मे)

शिक्षक विद्यार्थी-परायण, विद्यार्थी शिक्षक-परायण, दोनो ज्ञान-परायण और ज्ञान सेवा-परायण, हमारी पाठशाला की यही योजना होगी। हम नये समाज के निर्माण की शिक्षा दें। प्रचलित शिक्षा दने क लिए अन्य अनेक पाठशालाएँ समर्थ हैं।

अपने वाल-वच्चे और तत्सम दूसरे भी, यही हमारा क्षेत्र है। अपने बाल-बच्चे सहित हम स्वावलम्बी होते ही हैं। मुझे कभी भी स्वावलम्बन की पहेली प्रतीत नही हुई। तुल्य वेतन तो सर्वोदय-समाज की नीव ही है।

पुरुषार्थ-हीनता का दोष पाश्चात्य देशो की शिक्षा मे नही है। पर उतने से ही नयी तालीम नही हो जाती। लुटेरे भी पुरुषार्थी होते ही हैं। अगर साम्ययोग और स्वावलम्बन, ये दो गुण हमारी शिक्षा मे न हो, तो हमारी शिक्षा के दोनो फुफ्फुस ही नष्ट हुए समझिये।

पाठशाला की खादी : ४६ :

जाजूजी की शंका

श्री जाजूजी लिखते है कि "तारीख ३०-१-'४९ से तारीख ११-२-'४९ तक सेवाग्राम मे छात्रो ने लगातार दिनभर कताई-वुनाई का काम किया। उसका परिणाम इस तरह प्रकट हुआ है २४१० घटो के काम मे ८० वर्गगज कपडा तैयार हुआ। उसका मूल्य १४१।।।-)। हुआ। उसमे से कच्चे माल की लागत ४३।।।=) बाद किये जायँ, तो श्रम की आय ९७।।।≡)। हुई है अर्थात् एक घटे की आमदनी ८ पाई पडी। काम घटिया हुआ, उसकी कटौती वाद की जाय, तो भी एक घटे की आमदनी कम-से-कम छह पाई गिन लेनी चाहिए। अगर किसी विद्यालय के एक सौ बालक रोज दो घटे कताई-बुनाई का काम करें, तो एक

दिन की आमदनी सवा छह रुपये होगी। महीने में काम के दिन २४ रखे जायँ, तो माहवार आमदनी १५०) हो सकती है। इससे ऊपर के तीन दर्जों के तीन शिक्षकों के वेतन का खर्च निकल सकता है।

ऊपर के हिसाब में कताई-बुनाई की दर चरखा-संघ द्वारा नियत की हुई रखी गयी है। खादी की दृष्टि से यह ठीक भी है। पर मामूली कपडे की बाजार की कीमत से उसका मेल नहीं बैठेगा। ऊपर के हिसाब मे ८० वर्गगज खादी का मूल्य १४१॥।-)। रखा गया है। पर उतने ही मिल के कपडे का मूल्य करीब ४०-५० रुपये ही होगा। कच्चे माल की लागत ४३॥।=) बाद कर दी जाय तो आमदनी नाममात्र की रह जाती है या घाटा भी रहना सभव है। तो सोचने की बात हो जाती है कि मौजूदा आर्थिक व्यवस्था मे जहाँ अध्यापको का वेतन नगदी मे देना पड़ता है, क्या खादी की विशिष्ट दरो के भरोसे किया हुआ हिसाब ठीक होगा? अगर इस खादी का उपयोग छात्रो और अध्यापकों के कपडे के लिए कर लिया जाता है, तो उससे शाला के चालू खर्च मे मदद कैसे मिलेगी?

अभी बुनियादी शिक्षा की शालाएँ बहुत कम है। उनमे बनी हुई खादी बिक जाना आज तो मुश्किल नहीं है। पर यह बुनियादी शिक्षा व्यापक बननी है और लाखो शालाओ मे चलनेवाली है तो फिर उतनी सब खादी कैसे बिक सकेगी? आज की आर्थिक व्यवस्था ग्रामोद्योगो के अनुकूल हो जाय, तो कठिनाई नहीं रहती। पर यदि ऐसा हो तो?

बुनियादी शालाओ में तैयार की गयी खादी यदि सरकारी

शिक्षा-विभाग ने खरीदी, तो कपडे पर होनेवाला सरकार का खर्च बढ जायगा। सरकार यदि उस खादी को बाजार में बेचेगी, तो वह बाजार के भाव से बिकेगी और उसमे सरकार को नुकसान होगा। एक तरफ स्कूलो के खाते मे आमदनी दिखाई जायगी और दूसरी तरफ सरकारी खाते मे उतना ज्यादा खर्च दिखाया जायगा।

इसलिए मुझे लगता है कि शाला मे कताई-बुनाई मूल दस्तकारी होने की दशा मे हम उसकी आमदनी रुपयो मे न गिन-कर कितने हाथ सूत और कितनी खादी तैयार हुई, यह बताकर सन्तोष मान लें, तो अच्छा होगा।"

पुरुषार्थ से परिस्थिति बदलती है

श्री जाजूजी का यह लेख लम्बा है, पर उसकी मुख्य बाते यहाँ दे दी गयी हैं। विचारो की सफाई के खयाल से उन्होने यह लिखा है और उसी दृष्टि से उसे ग्रहण करना चाहिए। लेकिन उसमे कोई नयी बात मुझे नही मिली। कताई-बुनाई से शाला का खर्च चलाने की बात खादी की विशिष्ट दरो पर आधार रखती है और इसलिए वह काल्पनिक हो जाती है, इस तरह का आक्षेप आज से बारह साल पहले, जब नयी तालीम की योजना बन रही थी, प्रो० के० टी० शाह ने उपस्थित किया था। उस आक्षेप का उत्तर भी दिया गया था। यहाँ काल्पनिक और वास्तविक मे सिर्फ पुरुषार्थ का अतर है। याने जो चीज आज काल्पनिक जान पडती है, वही पुरुषार्थ से कल वास्तविक सृष्टि में आ सकती है, वैसा कुछ पुरुषार्थ चरखा-सघ ने किया, जिससे

खादी का एक बाजार स्थिर हो गया। वह अभी सीमित है, क्योंकि पुरुषार्थ सीमित है। इस सीमित को असीम में पलटाने का काम नयी तालीम के जरिये होने का है।

चेतना का विषय

नयी तालीम हमारी फच्चर है और अहिंसा याने स्वराज्य-सत्ता हथौड़ी है। दोनो के योग से चालू अनर्थकरी अव्यवस्था टूट जायगी और समुचित आर्थिक व्यवस्था स्थापित होगी। लाखो स्कूल खादी पैदा करने लगेंगे, तो उस खादी का क्या होगा, इसकी चिंता करने की कोई जरूरत नही है, क्योंकि तब तो क्रांति भी हुई रहेगी। ऐसी ही क्रान्ति हमे करनी है। इसलिए हमारे लिए यह चिंता का नही, चेतना का विषय है।

अप्रतिष्ठित रुपये से भ्रान्ति

हम चरखा-संघ की खादी की दरो मे बुनियादी शाला की उत्पत्ति के आँकडे देते हैं, यह बात किसीसे छिपी नही है और इसलिए उससे कोई गलतफहमी का कारण नहीं है। वैसे उत्पत्ति रुपयो मे बताना निरर्थक है, इसलिए नही कि खादी की दरे अप्रतिष्ठित है, लेकिन इसलिए कि रुपया ही अप्रतिष्ठित है। रुपये की अप्रतिष्ठा अब इतनी जाहिर हो चुकी है कि उसका अधिक विवरण देने की जरूरत नही। फिर भी भ्रान्त दुनिया के उपयोग के लिए भ्रांति का अवलंब किया जाता है। स्वप्न मे व्याधि हो, तो स्वप्न में ही उसके लिए उपचार होता है। जाग जाने पर न व्याधि रहती है, न उपचार।

सत्य के दर्शन हों

अगर शाला की पैदावार का उपयोग सरकार अपनी गरज के लिए करेगी, तो शिक्षा-विभाग में कुछ आय दीखेगी और अन्य विभागो में व्यय दीखेगा, ऐसा कहा गया है। मैं कहता हूँ कि ऐसा ही होना चाहिए। अगर शिक्षा-विभाग ने कमाई की है, तो उसके नाम पर वह जरूर दीखनी चाहिए और दूसरे विभाग, जो जनता पर भाररूप है, वे भी वैसे स्पष्ट दीख पडने चाहिए। जिसकी जो जिम्मेवारी है, उसको वह उठानी चाहिए। तभी सत्य की रक्षा होगी ।

—'मर्वोदय , अक्तूबर १९४९

धर्म-शिक्षा की व्याख्या : ५० :

एक प्रश्न

श्री आपटे गुरुजी लिखते हैं "यह प्रश्न बार-बार पूछा जाता है कि छोटे बच्चो के लिए पाठशालाओ में धार्मिक शिक्षा कैसे दी जाय ? बहुत-से लोगो को इसकी उपयुक्त कल्पना नही है। अवश्य ही इस विषय मे सभी एकमत है कि सन्तो के वचन कण्ठस्थ कराये जायँ, पर प्राथमिक और माध्यमिक स्कूलो मे धार्मिक शिक्षा का रूप कैसा हो, इस बारे मे स्पष्टीकरण होना चाहिए। वह सूत्ररूप मे हो, तो भी चल सकता है।"

धर्म-शिक्षा की सच्ची योजना

निस्संदेह धार्मिक शिक्षा दिलचस्पी का विषय है। पर आज 'धर्म' शब्द का अर्थ बड़ा ही संकुचित और समाज-भंजक बन गया है। यही कारण है कि विचारशील लोगों का सुझाव पाठशालाओं में धर्म-शिक्षा न देने की ओर ही है। मेरी दृष्टि से सच्ची धर्म-शिक्षा साहित्य का विषय ही नहीं है। चरित्र-निष्ठा, ईश्वर-विषयक श्रद्धा और देह से पृथक् आत्मा का भान, यही धर्म का सार है और वह सत्पुरुषों की संगति से ही मिलता है। इसलिए सुशील शिक्षकों की योजना ही मेरी धर्म-शिक्षा की योजना है।

सन्त-वाङ्मय का अर्थ

सन्तों के वचनों का कण्ठस्थ रहना लाभदायक तो है ही, पर उसे मैं धर्म-शिक्षण नहीं कहूँगा। उसे तो विशुद्ध वाङ्मय का शिक्षण ही कहूँगा। उसमें भी चुनाव करते समय व्यापक विवेक आवश्यक होगा। 'प्रार्थनासंबंधी विवेक' मैंने पीछे बता ही दिया है, यहाँ भी वही लागू होगा।

सर्व-धर्म-समभाव

सर्व-धर्म-समभाव की भूमिका का आश्रय ले उन-उन धर्मों के सन्तों के चरित्र या व्रत, उत्सव आदि चित्त-शुद्धि-साधक योजनाओं के बारे में जानकारी करायी जा सकती है। पर इसे भी मैं धर्म-शिक्षण नहीं कहूँगा। इसे इतिहास और समाज का अध्ययन कहा जा सकेगा।

अनुभवपूर्ण शिक्षा

चित्त-शुद्धि की तनिक भी परवाह न कर, कुछ तात्त्विक आचारो और क्रिया-कलापो से सीधे पुण्य हथियाने की कल्पनाएँ, जो सभी धर्मो मे रूढ हैं, वे नष्ट होनी ही चाहिए। प्रत्येक बात अनुभव की कसौटी पर कस लेने की आदत बच्चो मे डालनी चाहिए। अगर यह सध सके, तो मै समझूँगा कि सारी धर्म-शिक्षा मिल गयी।

—मराठी 'हरिजन', ९ मार्च १९४७

शेष-शक्ति : ५१ :

बापू ने सब रचनात्मक कार्यक्रम मे चरखे को सूर्य के समान माना और बाकी के सारे कार्यक्रम को ग्रहमाला की उपमा दी। मै सोचता था कि उस रूपक में नयी तालीम का स्थान कहाँ है। नयी तालीम को एक ग्रह कहने की कल्पना मुझे मान्य नहीं हुई। सूर्य के साथ जिस कारण ग्रहमाला फिरती रहती है और जिस कारण सूर्य ग्रहमाला के साथ घूमता रहता है, वह कारण जिसे आकर्षण-शक्ति कहते हैं, वही हमारे रूपक मे नयी तालीम हो सकती है। हमारे सब कार्यों के बीच परस्पर संबध बनाये रखने-वाली आकर्षण-शक्ति के समान वह चीज है। इसीको हमने अपनी पौराणिक भाषा में शेषनाग कहा था। शेष का आधार सारी पृथ्वी और सृष्टि के लिए मानते हैं। कहने का भाव यह था कि सृष्टि का आधार बताने के लिए हम शब्द कहाँ से लाये, कारण

शब्द भी सृष्टि के अन्तर्गत है। इसलिए कह दिया कि सृष्टि को शेष का आधार है। अर्थात् 'जो कुछ बचा हुआ है', उसका आधार सृष्टि को है। शेष का अर्थ ही है, बची हुई चीज और उसके महत्त्व मूल्य माने गये है, क्योंकि यह शक्ति, जिससे दुनिया के सब पदार्थ परस्पर आकर्षित रहते है, हजारो दिशाओ में काम करती है। हमारे कामो मे नयी तालीम ही शेषनाग है। याने हमारे जो कार्यकर्ता है वे सारे अपने-अपने उद्योग मे प्रवीण होने के साथ-साथ अगर नयी तालीम की दृष्टि रखेंगे, तो वे सेवा-कार्य मे बहुत कारगर होगे और वे हर जगह प्रवेश पा सकेंगे।

फच्चर

यह एक ऐसी फच्चर है जिसे हम हर जगह डाल सकते है। इसके आधार पर हमारा काम हर जगह बढ सकता है। नयी तालीम के द्वारा हमारे दूसरे कामो का प्रवेश सब जगह हो सकता है। जो लोग हमारे दूसरे कार्यक्रमो को कबूल नही करते, वे भी नयी तालीम को कबूल कर लेते है। ऐसा सुलभ और सबको सहज ग्रहण हो सकने योग्य साधन है यह।

उभय मर्यादा

मै यह नही कहता कि हरएक को शिक्षक होना चाहिए या वह वैसा हो सकता है। क्योंकि उसके लिए एक खास योग्यता की आवश्यकता है। फिर भी उसके पीछे जो दृष्टि है, उसका ज्ञान सबको होना जरूरी है। वह दृष्टि इतनी ही कि हमारे जीवन मे सबधित जो ज्ञान है, उसे छोडना नही है और उससे

असम्बन्धित ज्ञान में पडना नहीं है। ये विधायक और निषेधक मर्यादाएँ हमारे लिए हो जाती है। ये दो मर्यादाएँ, क्या छोड़ना नहीं और किसमें पडना नही, सध जायँ, तो जो भी उद्योग हम करे, उसीके द्वारा हम अपने जीवन को और काम को परिपूर्ण बना सकते है। अन्यथा या तो हम जड बन जाते है याने एक जगह स्थावर हो जाते हैं या चारो ओर दौडते रहते हैं। लेकिन हमें न तो दौडना है और न जड ही बनना है। हमे तो निश्चित दिशा मे निश्चित प्रवास करना है। यह नयी तालीम से बन सकता है।

पूर्ण समाधान

नयी तालीम द्वारा हमारे हर काम का सबध अन्य सब कामो से और कुल सब कामो का सबध हमारे जीवन से होना चाहिए। तब हमारा जीवन आनदमय होगा, उसमे सामजस्य होगा और समाधान भी। नही तो जीवन एकागी होगा, समाधान नही रहेगा।

मै देखता हूँ कि कार्यकर्ता कुछ समय तक तो काम करते हैं और उसके बाद फिर उन्हे उस काम मे असमाधान होने लगता है। फिर वे सेवा के दूसरे क्षेत्र खोजने लगते है। एक भाई, जिन्होने बीस साल चरखे के काम मे लगाये, आज गोसेवा का काम हाथ मे लेने का विचार कर रहे है, क्योकि चरखे के काम में अब उन्हें समाधान नही मिलता। उन्होने मेरी सलाह ली। मैने कहा यह विचार ठीक नही है, क्योकि एक काम द्वारा आज तक जो ज्ञान हासिल किया, उसे छोडकर एक नया ज्ञान हासिल करने की इच्छा करने से और जिस काम में आज तक तपस्या

की, उसे छोडकर दूसरी तपस्या का आरंभ करने से जीवन व्यर्थ ही चला जाता है। लेकिन अगर नयी तालीम की दृष्टि कार्यकर्ता को होगी, तो उसके ध्यान में आयेगा कि उसके अपने चालू काम से ही दूसरे काम जोडे जा सकते हैं और फिर असमाधान का कारण नही रहता।

—'सेवक' जनवरी १९४९

चरखे का अभ्यास : ५२ :

सूत कातने के उद्योग के राष्ट्रीय महत्त्व को स्वीकार करके अनेक लोगो को यह बात पसद पडी है कि स्कूलो मे चरखा सिखाने की व्यवस्था होनी चाहिए। इसलिए स्कूलो मे सूत-कताई का अभ्यास कराया जाता है। पर चरखे का अभ्यास विधिवत् होना चाहिए। निश्चित समय पर जैसे-तैसे बैठकर सूत कात लेना ही बस नही है। कर्म यदि विधिवत् सम्पन्न किया जाता है, तभी उसका उपयोग होता है, अन्यथा उसका कुछ भी फल हाथ नही लगता। कर्म की ऐसी ही विचित्र गति है। स्कूल में चरखे का शिक्षण-दृष्टि से अभ्यास होना चाहिए। उस अभ्यास मे निम्नलिखित मुख्य बाते आवश्यक है

(१) धधे का ज्ञान—अर्थात् बिनौला निकालना, धुनकना, पोनी बनाना, कातना। इन सब विषयो मे अधिक-से-अधिक गति मे उत्तम काम करना आना चाहिए। (इन चारो बातो का समावेश कातने मे करना चाहिए।)

(२) कला का ज्ञान—अधिक-से-अधिक महीन सूत कातना, एक-एक हाथ से सूत कातना, सीधे तकुए पर सूत कातना, सब ततु समातर हो, इस प्रकार से धुनकना, पोनी न बनाकर कातना आदि।

(३) उपाग का ज्ञान—रेचा, धुनकी, चरखा, तकुआ को ठीक करने के लिए बढईगिरी, लोहारी आदि के जितने ज्ञान की आवश्यकता है, उतना जानना।

(४) यन्त्रशास्त्र का ज्ञान—रेचा, धुनकी और चरखे के मुद्दे समझने भर का यन्त्रशास्त्र का ज्ञान। घर्षण का क्या अर्थ है, उसे कैसे रोका जाय, चक्र और तकुए का क्या सम्बन्ध है, तकुआ क्यो हिलता है आदि।

(५) चरखे के अर्थशास्त्र का ज्ञान—ग्राम-रचना, सम्पत्ति का विभाजन, बेकारी का प्रश्न, विदेशी वस्त्र का बहिष्कार, कपास की दुनिया मे भारत का स्थान, स्वावलम्बन, स्वराज्य आदि अनेक दृष्टि से कातने के उपयोग की खोज।

(६) कताई के इतिहास का ज्ञान—कताई की कला का उद्गम और विकास कैसे हुआ, हिन्दुस्तान मे यह कला किस प्रकार लुप्तप्राय हो गयी आदि।

(७) धर्म-दृष्टि से ज्ञान—हिन्दू, बौद्ध, मुसलमान, ईसाई आदि धर्मों की कातने के विषय मे वृत्ति, स्वदेशी धर्म, अविरोधमय जीवन, सादगी, गरीबो के लिए आस्था, श्रम की मान्यता, अस्पृश्यता-निवारण, स्त्रियो की मर्यादा आदि।

ये कुछ मुद्दे हैं। इन सब विषयो का भरपूर ज्ञान होना चाहिए। कताई का एक ओर खेती से और दूसरी ओर बुनाई

से सम्बन्ध है। इसलिए कताई के ज्ञान में खेती (कपास की उत्पत्ति आदि) तथा बुनाई के सामान्य ज्ञान का भी समावेश होना चाहिए।

—'मधुकर' से

देहात और शहरों की तालीम : ५३ :

आजकल शिक्षा के विषय में लोगों में काफी मथन चल रहा है। सोचनेवाले लोग चिंतन में पड़े हैं, लेकिन बात बिलकुल सरल है। अपनी बहुत सारी जनता देहातों में रहती है, तो आम जनता की तालीम देहाती ढग से होनी चाहिए, जिससे कि देहात की उन्नति हो। जो लोग शहरों में रहते हैं, उनकी दृष्टि भी ग्रामोन्मुख रहे, उनके और ग्रामों के बीच में अच्छी तरह सहयोग हो, इस प्रकार की तालीम शहरवालों को मिलनी चाहिए। अगर यह हो कि शहरवालों की तालीम एक दूसरे ही ढग से चले और ग्रामों की दूसरे ही ढग से चले और दोनों में विरोध रहे, तो यह विरोध देश के लिए खतरनाक होगा।

दोनों में समानता

वैसे देखा जाय, तो जिन्दगी का बहुत सारा अश सबके जीवन में समान होता है, चाहे वह शहर की जिन्दगी हो, चाहे देहात की जिन्दगी हो। पचभूतों का जो परिणाम गाँववालों पर होता है, वही शहरवालों पर होता है। इसमें कोई फर्क नहीं होता। स्वच्छ हवा की जरूरत शहरवालों को और गाँव-

वालो को, दोनो को समान रूप से है और होनी चाहिए। सृष्टि के साथ सम्पर्क दोनो के लिए लाभदायी है। यद्यपि शहरवालो के लिए यह बात जरा कठिन है, तो भी यह इन्तजाम शहरवालो के लिए होना चाहिए। आरोग्य-शास्त्र की आवश्यकता दोनो के लिए समान है। यह ठीक है कि शहरवालो के वास्ते आरोग्य की दृष्टि से एक दूसरा इन्तजाम करना पडेगा, गाँववालो के वास्ते एक दूसरा इन्तजाम करना होगा, लेकिन आरोग्य की जरूरत दोनो के लिए समान ही होगी। परस्पर सहयोग, प्रेम, त्याग-भावना इत्यादि जो धर्म-विचार है, वे दोनो के लिए समान लागू है। इतना फर्क होगा कि गाँवो मे जीवन की बुनियादी चीजे बनेंगी, इस वास्ते ग्रामीण लडके की तालीम अत्यन्त सहज भाव से होगी और शहरो मे बुनियादी चीजे नही बनेगी, गौण चीजे बनेंगी, इस वास्ते वहाँ की तालीम मे उन चीजो पर आधार रखना पडेगा, तो उस तालीम मे कुछ गौणता आ जायगी। यह जो गौणता शहर के शिक्षण मे आयेगी, तो वहाँ के जीवन में ही होने के कारण उसको टाल नही सकेंगे, तब तक, जब तक कि शहरो को भी हम ग्रामो के समान रूप नही दे सकते।

शहर की तालीम मे थोडी गौणता रह जायगी, यह हम कबूल करते है। परन्तु उस गौणता की पूर्ति हो सकेगी, अगर दो बाते उसमे हो। एक तो उनका मुख गाँवो की तरफ हो और दूसरी, परदेश की जानकारी वे काफी रखें। शहरो से यह अपेक्षा जरूर की जायगी कि वहाँ के लोग विदेशी भाषाओ से कुछ परिचय रखते होगे, इस वास्ते उन भाषाओ में जो नयी-नयी चीजे आयगी, वे नयी चीजें अपने साहित्य मे लायेगे, यह आशा उनसे जरूर

की जायगी और उनकी दृष्टि अगर ग्रामोन्मुख रही, तो ग्रामीणो की सेवा करना वे अपना धर्म समझेंगे। मैंने सूत्र ही बनाया था कि ग्रामीण होंगे सृष्टिपूजक या परमेश्वर-सेवक और शहर के लोग होंगे ग्राम-सेवक। अगर यह दृष्टि रही, तो दोनो स्थानो का इस तरह से विकास किया जा सकता है कि एक-दूसरे की पूर्ति में एक-दूसरे मदद दें।

हर गाँव में विद्यापीठ

मेरी कल्पना है कि हर गाँव में सम्पूर्ण तालीम होनी चाहिए। जिसे हम युनिवर्सिटी कहते है, विद्यापीठ कहते है, वह हर गाँव में होना चाहिए। क्योकि हरएक ग्राम चाहे कितना भी छोटा हो, सारी दुनिया का प्रतिनिधि है और कुल दुनिया थोडे में वहाँ पर मौजूद है। इस वास्ते पूरी तालीम वहाँ मिलनी चाहिए। मनुष्य को, प्रत्येक गाँव का सृष्टि के साथ प्रत्यक्ष संबध है, इस वास्ते, सृष्टि-विज्ञान सब तरह से वहाँ हासिल हो सकता है। असख्य प्राणी, पक्षी, पशु इत्यादि के साथ संपर्क रहता है, इस वास्ते मानव के लिए जो पूरक ज्ञान चाहिए प्राणिशास्त्र का, वह यहाँ मिल सकता है। वहाँ पर खेती होगी, वहाँ पर कपडा बनेगा, वहाँ पर रास्ते बनेंगे, वहाँ पर ग्रामोद्योग होगे। इस वास्ते उन सब चीजो के जरिये और उन चीजो के लिए इस ज्ञान की जरूरत है। वह सारा ज्ञान ग्राम में प्राप्त होना चाहिए और हो सकता है। ग्राम मे मानव-समाज चला आया है प्राचीनकाल से, इस वास्ते वहाँ इतिहास भी मौजूद है और समाज-ज्ञान भी मौजूद है। ग्राम में एक-दूसरे से अधिक निकट संपर्क आता है। शहर में जितना

आता है, उससे ज्यादा। इस वास्ते वहाँ नीतिशास्त्र और धर्म-शास्त्र बहुत विकसित हो सकता है। आत्मा की व्यापकता, एक-दूसरे के साथ सहयोग करने की वृत्ति, सत्य-निष्ठा इत्यादि जो नीति-धर्म हैं, वे ग्राम मे अच्छी तरह से प्रकट है। ग्रह, नक्षत्र, तारे इत्यादि आकाश में दीखते है, शायद शहरो मे उनका प्रकाश अच्छी तरह पहुँचता न होगा। इसलिए गाँवो में काव्य-साहित्य का जितना विकास हो सकता है, शायद उतना शहरो मे होना मुश्किल है।

सज्जन ग्रामनिष्ठा बढ़ायें

हम व्यास और वाल्मीकि ऋषि की आजकल के शहरो मे कल्पना ही नही कर सकते, उनकी कल्पना तो ग्रामो या ग्रामो के नजदीक ही कर सकते हैं। शूर पुरुष, त्यागी पुरुष, जगलो के जानवरो से लडनेवाले जो होते हैं, वे तो ग्रामो मे हो सकते है, इस वास्ते पराक्रमी पुरुषो की सेवा ग्राम से ही मिल सकती है। राष्ट्रो की सेना ग्रामो से ही मिलती आयी है। सवाल इतना ही है कि इतना सारा होता है, तो ग्राम में तालीम देने के लिए जो एक सरजाम चाहिए, उतना सारा सरजाम क्या हम गाँव में नही कर सकत ? इसका उत्तर है, ग्रामो की चीजो में से कुछ सरजाम हम गाँव मे बना ही सकते हैं। लेकिन बहुत ज्यादा सरजाम की जरूरत नही रहेगी, निरीक्षण और प्रयोग की अधिक जरूरत रहेगी। इसलिए कभी-कभी ग्राम के लडको को शहर की युनिवर्सिटी में जाकर भी कुछ थोडा देखने का मौका लेना पडेगा, वैसे ही शहरवालो को भी ग्रामो मे जाकर यहाँ की कुछ चीजें सीखने

का मौका आयगा। लेकिन इस सबके लिए मेरी निगाह मे जो बहुत जरूरी चीज है, वह यह है कि सज्जन और विद्वान जन गाँवो मे रहना पसद करे। सत्पुरुषो ने ग्राम-निष्ठा बढायी, तो जो काम होगा, वह और किसी दूसरी रीति से नही होगा और युनिवर्सिटी के लिए जरूरी चीज तो यही है कि गाँव-गाँव में कोई सज्जन विचार का अनुशीलन करनेवाले मौजूद हो। इस तरह मे एक-एक सज्जन एक-एक गाँव मे आकर रहने लगे, तो उस गाँव के लिए तालीम का इन्तजाम करना किसी तरह से कठिन नही होगा।

संन्यासी—चलता-फिरता विद्यालय

इसके अलावा भिन्न-भिन्न प्रकार का ज्ञान, जो गाँव का कोई व्यक्ति या गाँव का सज्जन भी प्राप्त नही कर सकता, वह गाँवो को मिले, ऐसी भी एक योजना हमारे पूर्वजो ने की थी, वह हमको जारी करनी होगी। यह है परिव्राजक सन्यासी की योजना। सन्यासी गाँव-गाँव घूमता भी रहेगा और २-४ महीने किसी एक स्थान मे रहेगा, तो उसका पूरा लाभ गाँवो को मिलेगा। वह सारी दुनिया का और आत्मा का ज्ञान सबको देता ही रहेगा। सन्यासी माने 'वाकिग युनिवर्सिटी', चलता-फिरता विद्यालय, जो कि हर गाँव मे खुद हो करके जायगा। वह विद्यार्थियो के पास खुद पहुँचेगा और मुफ्त मे सबको तालीम देगा। गाँववाले इनके लिए सात्त्विक, स्वच्छ, निर्मल आहार देगे, इसके अलावा उनको कुछ जरूरत नही और उनसे जितना भी ज्ञान मिल सकता है, गाँववाले पा लेगे। ज्ञान प्राप्त करने

के लिए एक भी कौडी या पैसा खर्च करना पडे, उससे अधिक दु खदायक घटना कोई नही हो सकती। जिसके पास ज्ञान होता है, उसको इस बात की अत्यन्त प्यास होती है कि दूसरो के पास वह ज्ञान पहुँचे । उसको भूख होती है कि उसका ज्ञान दूसरो के पास कैसे जाय ? जैसे बच्चे को माता के स्तनपान की जितनी इच्छा होती है, उतनी ही इच्छा माता को बच्चे को स्तनपान कराने की होती है, क्योकि उसके स्तनो मे दूध भगवान् ने भर दिया है। कल अगर यह हो जाय कि माताएँ लडको से फीस लिये बगैर उनको दूध नही देंगी, तो दुनिया की क्या हालत होगी ?

वानप्रस्थ शिक्षक

ऊँचे ज्ञान के लिए शहर की युनिवर्सिटी मे जाना पडेगा और वहाँ सौ-सौ, दो-दो सौ रुपये खर्च किये बगैर कुछ हो ही नही सकता। समझने की जरूरत है कि इस तरह से पैसा खर्च करके जो ज्ञान प्राप्त होता है, वह ज्ञान ही नही होता। पैसे से खरीदा ज्ञान अज्ञान ही होता है। प्रेम देकर और सेवा देकर ही ज्ञान प्राप्त हो सकता है। पैसा खर्च करके ज्ञान प्राप्त हो ही नही सकता। इस वास्ते जो ज्ञानी पुरुष गाँव-गाँव घूमते हो और वे जिस गाँव मे जायँ, उस गाँव के लोग प्रेम से उनको २-४ दिन ठहरा लें, उनकी खुद भक्ति करे और उनके पास जो ज्ञान भरा है, उसे हासिल करे। यही योजना हो सकती है। जैसे नदी खुद होकर लोगो की सेवा के वास्ते गाँव-गाँव दौडी जाती है, जैसे खुद होकर जगलो मे खा-पीकर अपने-अपने थनो में दूध भरी हुई

गायें बच्चों को पिलाने के लिए दौडी चली आती है, उसी तरह ज्ञानी पुरुष भी गाँव-गाँव में ज्ञान लेकर दौडेंगे। तो यह परिव्राजक की संस्था फिर से खडी होनी चाहिए। इस तरह हर गाँव में युनिवर्सिटी बन सकती है और दुनिया का ज्ञान हर गाँव में पहुँच सकता है। वानप्रस्थ-आश्रम की संस्था फिर से मजबूत करनी चाहिए, जिससे हर गाँव में स्थिर शिक्षक मिलें, जिन पर कोई ज्यादा खर्च करना न पडे। हरएक गृहस्थ का घर है स्कूल और उसका खेत है प्रयोगशाला। हरएक वानप्रस्थ है शिक्षक और हरएक परिव्राजक सन्यासी 'युनिवर्सिटी'। विद्यार्थी है आज के बच्चे, जो सीखना चाहते हैं। गाँव-गाँव में ऐसे लोग है, जो १-२ घटा सीखेंगे और बाकी का समय दिनभर काम करते रहेंगे। इस तरह के चार आश्रमों की जो हमारी योजना है, वह पूरी योजना बचपन से लेकर मरण तक की तालीम की योजना है, ऐसा हम समझते हैं।

सर्वोदय की दृष्टि

सर्वोदय में यह दृष्टि है कि सारा गाँव अपने पूरे जीवन की समस्याएँ अपने बल से हल करे। इस वास्ते गाँव की कुल दौलत किसी एक व्यक्ति की नहीं, बल्कि गाँव की बननी चाहिए, तो गाँव के सब बच्चों के लिए समान तालीम की योजना बन सकती है। हरएक को समान रूप से पौष्टिक और सात्त्विक खुराक अगर हम नहीं दे सकते, तो समान रूप से हम तालीम क्या दे सकेंगे? सुदामा गरीब ब्राह्मण का लडका था और श्रीकृष्ण राजा का लडका। दोनो गुरु के घर गये थे। दोनों को समान खुराक

मिलती थी, दोनो को समान ही परिश्रम का काम मिलता था और दोनो को समान ही विद्या दी गयी थी। अगर किसी गाँव मे हमारा विद्यालय खुल जाय, जहाँ एक लडका है गरीव का, जो फटे कपडे से आता है और दूसरा अच्छे कपडे से आता है, एक लडका है, जिसे सुवह खाने को नही मिलता और दूसरा लडका, जो कि बैठे-बैठे खाता है और आलसी वन गया है, तो हमारा स्कूल चलेगा कैसे ? इसलिए अगर हम चाहते है कि ठीक ढग से सवकी तालीम हो, तो उसके वास्ते यही इलाज है कि गाँव का जीवन एक परिवार के समान हो और गाँव की कुल दौलत, कुल वुद्धि, कुल शक्ति सवके काम मे आनी चाहिए।

जिसको हम नयी तालीम कहते है, वह उस अहिंसा मे छिपी हुई है, जिसका प्रकाश भूदान और ग्रामोद्योग के जरिये फैलेगा। परमेश्वर करे कि ऐसे प्रेम, ज्ञान और वात्सल्यता से भरे गुरु अपने हिंदुस्तान के हरएक गाँव को हासिल हो !

असुरेश्वर (उडीसा)
६ मार्च १९५५

नयी तालीम से नया समाज : ५४ :

मैने देखा है कि नयी तालीम से जो अपेक्षाएँ की जाती है, वे पूरी नही हो रही है। इसलिए शिक्षक और विद्यार्थियो में भी कुछ असतोष-सा है। आवडी मे काग्रेस ने नयी तालीम के वारे मे प्रस्ताव किया। पडित नेहरू ने खुद वह प्रस्ताव रखा। १० साल के वाद नयी तालीम ही सरकारी

तालीम होगी, ऐसा उसमें कहा गया है। इसलिए आज नयी तालीम के जो स्कूल चलते हैं, वे नमूने के होने चाहिए। तो फिर उनसे जो अपेक्षा की जाती है, वह पूर्ण होगी और हिन्दुस्तानभर मे उनका अनुकरण होगा। नही तो कहेगे कुछ और चलेगा कुछ। आज तो जिनको 'वेसिक वायस्ट स्कूल' कहते है, वे इस तरह से चलते हैं कि उनको नरसिंहावतार ही कहना होगा—न पूरा मानव, न पूरा पशु। इसलिए यह वहुत जरूरी है कि हम लोग कुछ नमूने के विद्यालय चलायें। लेकिन इसके मानी क्या है, इस वारे मे चित्त मे सफाई होनी चाहिए।

दूषित कल्पनाएँ

वहुत-से लोग समझते हैं कि लडको को थोडा-सा उद्योग दिया, कुछ चरखा काता, तो नयी तालीम हो गयी। कुछ लोग समझते है कि ज्ञान की तरफ ज्यादा ध्यान नही दिया, तो नयी तालीम हो गयी और कुछ लोग समझते है कि ज्ञान का काम के साथ जोड वैठा दिया, तो नयी तालीम हो गयी। फिर वह जोड सहज रूप से वैठता है या नही, इस तरफ ध्यान देने की भी जरूरत नही है। ये तीनो कल्पनाएँ दूषित हैं।

उद्योग में प्रवीणता

नयी तालीम के विद्यार्थियो को कुछ थोडा-सा उद्योग देने से काम नही चलेगा। नयी तालीम के लडके तो उद्योग में इतने प्रवीण होगे कि जैसे मछली पानी मे तैरती है, उसी तरह वे काम करेगे। हमारे लडको मे यह हिम्मत अभी चाहिए कि चार

घटा उद्योग करके अपने पेट के लिए कमा लेंगे। नमूने के तौर पर थोडा-सा कातना-बुनना जान लिया, उतने से काम नही चलेगा। कुछ लोग यह कह सकते है कि हमें उद्योग मे प्रवीण होने की क्या जरूरत है, हम तो स्कूल मे पढानेवाले है। माँ छोटे बच्चे को यह सिखाती है कि खाना कैसे खाया जाता है। जब वे सीख जाते हैं, तो यह नही कहा जाता कि अब वे खाने की कला सीख गये, तो फिर उनको खाने की क्या जरूरत है। परन्तु खाने का ज्ञान हुआ, इतने से काम पूरा नही होता। मनुष्य को हर रोज खाना मिलना चाहिए। जैसे मनुष्य के लिए खाना नित्य की चीज है, उसी तरह नयी तालीम के शिक्षको को और लडको को नित्य चार घटा शरीर-परिश्रम करना चाहिए। उनको उद्योग में इतना प्रवीण होना चाहिए कि गॉव के बढई, किसान आदि उनके पास सीखने आयेंगे। औजारो मे सुधार करने की कला भी उनको हासिल होनी चाहिए। उनको खेती का आचार्य बनना चाहिए। आज ग्रामोद्योग टूट गये है, इसलिए नयी तालीम के जरिये ग्रामोद्योगो को फिर से खडा करना है।

पूरा ज्ञान आवश्यक

नयी तालीम मे पुस्तको का महत्त्व नही है, इसलिए ज्ञान की उपेक्षा नही की जाती। अक्सर माना जाता है कि इसमे तो जितना सहज ज्ञान मिलेगा, उतना ही सब है। लेकिन यह खयाल गलत है। नयी तालीम में जीवन की सभी बुनियादी चीजो का पूरा ज्ञान होना चाहिए। लबा-चौडा इतिहास और निकम्मे राजाओ की नामावली याद रखने की कोई जरूरत नही है। उसमे तो

विद्यार्थियों के सिर पर नाहक बोझ लदता है। लेकिन जीवन के जो बुनियादी विचार हैं, जिनसे हमारा जीवन विकसित होता है, उनका ज्ञान जरूरी है। तत्त्वज्ञान, धर्म-विचार, नीति-विचार, इन सबकी जानकारी आवश्यक है। हमारे समाज की और दूसरे समाज की विशेषताएँ क्या हैं, इसका भी ज्ञान होना चाहिए। विज्ञान के मूलभूत विचार लड़कों को मालूम होने चाहिए। उन्हें आरोग्यशास्त्र, आहारशास्त्र, स्वच्छता, रसोई-शास्त्र आदि का उत्तम ज्ञान होना चाहिए। इस तरह नयी तालीम में ज्ञान की कोई कमी नहीं होनी चाहिए। भाषा का भी उत्तम ज्ञान होना चाहिए। अपने विचार ठीक ढंग से प्रकाशित करने की कला मालूम होनी चाहिए। अक्षर सुन्दर होने चाहिए, साहित्य का ज्ञान होना चाहिए। इस तरह हमारी तालीम में ज्ञान की कमी नहीं होगी, लेकिन निकम्मा ज्ञान नहीं होगा।

आजकल की युनिवर्सिटियों में विद्यार्थियों के सिर पर नाहक निकम्मे ज्ञान का बोझ डाला जाता है और कहते हैं कि ३३ प्रतिशत नंबर मिले तो पास होंगे। इसका मतलब है कि ६७ प्रतिशत भूलने की गुंजाइश रखी गयी है। वास्तविक ज्ञान में तो १०० प्रतिशत याद रहना चाहिए। जो रसोइया ८० प्रतिशत अच्छी रोटी बना सकता है, उसे कौन नौकरी देगा? इसी तरह ज्ञान में कच्चापन न होना चाहिए। ज्ञान या तो है या नहीं है, सोलह आना है या नहीं है। क्या यह हो सकता है कि कोई मनुष्य ८० प्रतिशत जिंदा है और २० प्रतिशत मरा है? अगर वह जिंदा है, तो पूरा जिंदा है और मरा है, तो पूरा मरा है। फी-सदीवाली बात ज्ञान में नहीं चलती। ज्ञान तो पूरा और

निश्चित होना चाहिए, सशययुक्त नही होना चाहिए। लेकिन हमारे विश्वविद्यालयवालो ने ६७ प्रतिशत भूलने की गुजाइश रखी है, क्योकि वे भी जानते है कि निकम्मा ज्ञान सिखाया जाता है। नयी तालीम में इस तरह भूलने की गुजाइश नही होगी। जितना भी सिखाया जायगा, उतना सब याद रखने लायक होगा और विद्यार्थी सब याद रखेगा, क्योकि वह ज्ञान जीवन मे काम आयेगा। वास्तव मे जो विद्या होती है, उसे मनुष्य भूलता नही और जिसे भूलता है, वह विद्या नही है। इस तरह नयी तालीम मे हम ऐसी विद्या सिखायेगे, जो भूली नही जायगी। नयी तालीम पाकर तो महाज्ञानी लोग निकलने चाहिए।

ज्ञान और कर्म का समवाय

अब ज्ञान और काम का जोड बैठाने की बात लीजिये। हमने तो 'समवाय' शब्द बनाया है। जैसे मिट्टी और घडा, ये दोनो एक-दूसरे से इतने ओतप्रोत है कि उनका अलगाव ही नही बताया जा सकता और न अद्वैत ही। इस तरह जहाँ पर द्वैत और अद्वैत का निर्णय नही होता, उस सबध को 'समवाय' कहते है। जिस शिक्षा-पद्धति मे ज्ञान और उद्योग का समवाय होगा और हम बता नही सकेगे कि इस समय ज्ञान चल रहा है या उद्योग, वही हमारी पद्धति होगी। ज्ञान और कर्म मे फर्क नही किया जायगा। ज्ञान की प्रक्रिया चलती है, तो कर्म की भी प्रक्रिया चलेगी और कर्म की प्रक्रिया चलती है, तो ज्ञान की भी प्रक्रिया चलेगी। कर्म और ज्ञान एक-दूसरे से इतने ओतप्रोत होगे कि किसी भी तरह का जोड बैठाने का काम नही किया जायगा।

बाहर से ज्ञान लेने की बात नहीं रहेगी। उद्योग के जरिये ही ज्ञान का विकास किया जायगा और ज्ञान के जरिये ही उद्योग का। यही हमारी पद्धति है। ज्ञान और कर्म की मिलाई करके जो पद्धति बनायी जायगी, वह हमारी नहीं होगी। हमारी पद्धति में तो ज्ञान और कर्म एक-दूसरे में ओतप्रोत रहेंगे।

नयी समाज-रचना ही लक्ष्य

नयी तालीम के बारे में जो गलतफहमियाँ है, उस बारे मे मैंने अभी कहा। अब एक महत्त्व की बात कहूँगा। नयी तालीम आज की समाज-रचना कायम रखकर नहीं दी जा सकती। आज की समाज-रचना के साथ नयी तालीम का पूरा विरोध है। अगर कोई कहे कि नयी तालीम तो तालीम का एक प्रकार है। उद्योग के जरिये तालीम देने की एक पद्धति है, तो ऐसा कहना गलत है। नयी तालीम तो नये समाज का ही निर्माण करेगी। आज की समाज-रचना में ही नयी तालीम को बैठाया जाय और शिक्षकों की तनख्वाह में कम-बेशी रहे, डिग्री के अनुसार तनख्वाह दी जाय, यह सब उसमे नहीं चलेगा। अगर नयी तालीम में ही शिक्षकों की तनख्वाह मे फर्क रहा, तो 'स्टेट' में कैसे बदल होगा? आज तो 'स्टेट' का जो सारा यंत्र बना है, उसमें योग्यता के अनुसार तनख्वाह दी जाती है, दर्जे बने हुए है। नयी तालीम इसे खतम करेगी। अगर नयी तालीम का उसके साथ विरोध नहीं आता और नयी तालीम उसको तोड़ती नहीं, तो वह नयी तालीम ही नहीं है। नयी तालीम में शरीर-परिश्रम और मानसिक-परिश्रम की नैतिक और आर्थिक योग्यता समान मानी जायगी।

इसका मतलब है कि आज की कुल आर्थिक-रचना ही हमे बदलनी है और उसे बदलने के वास्ते ही नयी तालीम है ।

राजसुनाखला, पुरी (उडीसा)
१७ अप्रैल १९५५

ब्रह्मविद्या और उद्योग : ५५ :

आज तालीम देनेवाला कुर्सी पर बैठता है, लेनेवाला बेंच पर और पुस्तक के जरिये पाठ पढाया जाता है। इस तरह की तालीम पानेवाला कोई भी काम करने के लिए नालायक बन जाता है । आज सारे लडके रसोई करना नही जानते । वे समझते हैं कि यह तो हीन काम है, स्त्रियो का काम है, हमारा काम नही है। हमारा काम खाने का है। इसलिए हम उच्च हैं। हम ऐसी तालीम देना चाहते है, जिसमे लडको को रसोई का ज्ञान हासिल होगा। इन दिनो स्कूलो को गर्मी के दिनो मे छुट्टियाँ होती है, क्योकि वे गर्मी सहन नही कर सकते। इस तरह जो गर्मी और बारिश सहन नही कर सकते, वे खेत में कैसे काम करेंगे ?

भगवान् कृष्ण की तालीम

जैसे भगवान् कृष्ण को काम करते-करते तालीम मिली थी, वैसे ही हमारे लडको को मिलनी चाहिए। भगवान् कृष्ण गाय चराते थे, दूध दुहते थे, घर लीपते थे, मेहनत-मजदूरी करते थे, गुरु के घर जाकर लकडी चीरने का काम करते थे, अर्जुन

के घोड़ों की सेवा करते थे और उनका सारथ्य भी करते थे। राजसूय-यज्ञ के समय उन्होंने युधिष्ठिर महाराज से काम माँगा, तो युधिष्ठिर ने कहा कि आपके लिए हमारे पास काम नहीं है, लेकिन भगवान् ने कहा कि मैं बेकार नहीं रहना चाहता। युधिष्ठिर ने कहा कि आप ही अपना काम ढूंढ लीजिये। भगवान् ने कहा कि मैंने अपना काम ढूंढ लिया, जूठी पत्तलें उठाने का और गोबर लीपने का काम मैं करूँगा। मैं इस काम के लायक हूँ। मैंने बचपन से यह काम किया है और इस काम में मैं एम० ए० हूँ। इस तरह उन्होंने जूठी पत्तलें उठाने का काम किया, जिसका वर्णन शुकदेव ने भागवत में और व्यास भगवान् ने महाभारत में किया है और जब मौका आया, तो कृष्ण भगवान् ने अर्जुन को ब्रह्म-विद्या का उपदेश भी दिया।

आज की तालीम

हमारे देश के लड़के ऐसे होने चाहिए कि इधर तो ब्रह्म-विद्या का पारायण करें और उधर झाड़ू लगायें, गोबर लीपें, खेत में मेहनत करें। आज की तालीम ऐसी है कि उसमें ब्रह्म-विद्या का पता है, न उद्योग का। ब्रह्म-विद्या न होने का परिणाम यह हो रहा है कि हम सब विषयभोग-परायण बन गये हैं, इंद्रियों के गुलाम हो गये हैं। जो पढ़ा-लिखा होता है, वह आरामतलब हो जाता है। उसके मन में भोग और ऐश्वर्य की लालसा सतत बनी रहती है। तालीम में उद्योग न होने के कारण हाथ भी बेकार बन जाते हैं। इस तरह आत्म-ज्ञान के अभाव में बुद्धि बेकार और उद्योग के अभाव में हाथ बेकार। फिर ये शिक्षित लोग दस उँगलियों से काम करने के बजाय

हाथ में लेखनी लेकर तीन उँगलियों से काम करते हैं। अगर इस तरह की विद्या सबको हासिल होगी, तो देश क्या खायगा ?

ब्रह्मविद्या और उद्योग

इसलिए आज की तालीम बदलनी होगी और तालीम में ब्रह्म-विद्या और उद्योग, दोनों बातें शामिल करनी होंगी। ब्रह्म-विद्या से आत्मा की पहचान हो जायगी। शरीर, मन और इन्द्रियों पर काबू रहेगा। सारी दुनिया के प्रति प्रेम पैदा होगा, स्व-पर का भेद मिट जायगा, यह छोटा-सा घर मेरा है, यह खेत मेरा है—इस तरह की सब बातें मिट जायँगी। जिसको ब्रह्म-विद्या हासिल हुई है, वह 'मेरा-मेरा' नहीं कहेगा। वह कहेगा कि यह घर, यह जमीन, यह सम्पत्ति 'सबकी' है। लेकिन जिनको भ्रम-विद्या मिलती है, वे कहते हैं कि यह सब 'मेरा' है।

हमारी तालीम में हर लड़का दोनों हाथों से काम करेगा और स्वावलंबी बनेगा। हर लड़का उत्तम खेती करेगा। सब लड़के खेत में मेहनत करेंगे। आज तो देश में इतना आलस फैला हुआ है कि सारे उद्योग खतम हो रहे हैं। अच्छे उद्योग करनेवाले लोग चाहिए, अच्छे बढ़ई चाहिए, बुनकर चाहिए, इन्जीनियर चाहिए, लोहार चाहिए, चमार चाहिए, सिपाही और सेनापति चाहिए। हमें ऐसे व्यापारी चाहिए, जो व्यापार करके लोगों की रक्षा करेंगे, किसी को ठगेंगे नहीं। कोई धन्धा ऊँचा नहीं होगा, कोई नीचा नहीं होगा। कोई भी यह नहीं कहेगा कि फलाना काम मैं नहीं कर सकता, क्योंकि वह हीन काम है।

नीरगपुर, कोरापुट (उड़ीसा)
५ जुलाई १९५५

नयी तालीम का आदर्श : ५६ :

विद्यार्थियो के लिए गुरु देवता है और गुरु के लिए शिष्य देवता है। विद्यार्थियो को गुरु से जो ज्ञान मिलेगा, वह सर्वस्व होगा और गुरु-सेवा ही उनके लिए सर्वस्व होगी। शिक्षको के लिए विद्यार्थियो को ज्ञान देना और उनकी चिंता करना, यही सर्वस्व होगा। गुरु को यह नही मालूम होना चाहिए कि मैं सेवा करता हूँ, तो उसमे मेरा और कोई मतलब सधता है। विद्यार्थियो को यह महसूस नही होना चाहिए कि हम गुरु-सेवा करते है, तो उसमे हमारा और कोई मतलब सधता है। इसका मतलब यह है कि विद्यार्थियो के लिए गुरु-सेवा और शिक्षको के लिए विद्यार्थी-सेवा पर्याप्त ध्येय, एकमात्र ध्येय और अनन्य ध्येय मालूम होना चाहिए और दोनो मिलकर परमेश्वर की सेवा कर रहे है, ऐसी अनुभूति होनी चाहिए।

सामूहिक जीवन

इसके लिए कुछ बाते बहुत लाभदायक होती है। जैसे अगर दोनो मिलकर खेती, कपडा बनाना, सफाई आदि जैसा कोई उत्पादन का कार्य करते हो और दोनो का सामूहिक जीवन बनता हो, तो बडी लाभदायी वस्तु हो जाती है। उसी तरह दोनो मिलकर अध्ययन-अध्यापन करते है, तो वह भी एक स्वतत्र ध्येय क लिए है। इसके जरिये हम समाज की कोई सेवा कर रहे है, ऐसी अनुभूति होनी चाहिए। अगर इस तरह का अनुभव

अध्यापन मे और उद्योग मे आता हो, तो आज पुस्तको की जो समस्या है, वह नही उठेगी याने दोनो प्रकार के अनुभवो से जरूरी पुस्तक वहाँ पर निर्माण होगी।

अनुभवपूर्ण ग्रन्थ

हमारे यहाँ जो उत्तम भाष्य-ग्रथ हुए है, वे इसी तरह मे प्रत्यक्ष अध्यापन-कार्य मे से निर्मित हुए है। जैसे भगवान् शकराचार्य ने ब्रह्मसूत्र पर एक अप्रतिम भाष्य लिखा है, जो साधको मे बहुत प्रसिद्ध है। तत्त्वज्ञान पर इतना गहरा ग्रथ अक्सर देखने को नही मिलता, परन्तु वह ऐसी प्रसन्न और आसान भाषा मे लिखा है कि जैसे कोई सर्वसाधारण जनता के लिए किसी साहित्यिक ने लिखा हो। उसी प्रकार जो तत्त्वज्ञानी दुनिया मे हुए है, जैसे ग्रीन, काण्ट आदि, उनके ग्रथ बडे जटिल है। लेकिन शकराचार्य का ग्रथ इतना आसान है कि मैने तो बच्चो को सस्कृत सिखाते समय बडे मजे मे वह पढाया है और बच्चो को भी यही मालूम हुआ कि हम अपनी मातृभाषा मे पढ रहे है। इसका कारण यह है कि शकराचार्य ने अपने शिष्यो के लिए ब्रह्मसूत्र का अध्यापन किया था और उस अनुभव पर ग्रथ लिखा गया है। उन्होंने अध्यापन के समय तो एक-एक सूत्र पर विस्तृत विवरण किया होगा और उसीके नोट्स लेकर बाद मे वह ग्रथ सक्षिप्त रूप में लिखा होगा। इसलिए उस भाष्य की शैली ही इस प्रकार की है कि मानो कोई सवाद या चर्चा चल रही हो। वह पुस्तक पढते समय हमे ऐसा नही लगता कि लेखक ने ग्रथ लिखा हो और हम पढ रहे है। बल्कि ऐसा लगता है कि कोई गुरु कह रहा है और हम सुन रहे है।

मेरी रचनाएँ

इस तरह अध्ययन-अध्यापन और उद्योग एक सामाजिक सेवा की दृष्टि से चले, तो उसमे से पुस्तकें निर्माण होगी। मैंने कताई पर एक छोटी-सी किताब प्रत्यक्ष अनुभव से लिखी है। विद्यार्थियो को सिखाते-सिखाते और उद्योग करते-करते वह पुस्तक बनी है। 'गीता प्रवचन' तो साक्षात् जेल में कुछ कैदियो के सामने दिये गये व्याख्यान है। अगर मेरा सेवा का उद्देश्य नही होता और इस तरह का स्वाभाविक कार्य नही चलता, तो स्वतन्त्रभाव से मै ऐसी पुस्तक न लिखता। हम रोज शाम की प्रार्थना में स्थितप्रज्ञ के लक्षण बोलते है। जेल मे एक दिन मुझसे कहा गया कि उन पर कुछ व्याख्यान दीजिये, जिससे कि उसका सार समझ मे आ जाय, तो कुछ भाइयो के सामने मैं उन श्लोको का विवरण देता गया और उसीकी वह 'स्थितप्रज्ञ-दर्शन' पुस्तक बनी। जेल मे मेरी जो 'स्वराज्य-शास्त्र' पुस्तक लिखी गयी, वह भी इसी तरह लिखी गयी। एक भाई ने कुछ सवाल पूछे और उसके उत्तर मैंने उन्हींको बोल दिये। उसीकी वह किताब बनी।

इस तरह जहाँ पर शिक्षक और विद्यार्थी मिलकर समाज-सेवा के उद्देश्य से अध्ययन, अध्यापन और उद्योग करते है, वहाँ पर उनका अनुभव वही तक सीमित नही रहता, उसका लाभ सारी दुनिया को मिलता है। इस तरह से जो ग्रथ निर्माण होते हैं, उनका सम्प्रदाय चलता है और उनके अध्ययन-अध्यापन की परपरा चलती है।

विचार-मन्थन और प्रयोग

नयी तालीम के विद्यालय से हम हमेशा यह आशा करते है कि उसमें विचारो का खूब अध्ययन चले और उसका आचरण भी हो। उस चिंतन, मनन या सह-चिंतन और सह-आचरण से, जो गुरु और शिष्य, दोनो मिलकर करते है, दुनिया को अनुभवयुक्त ज्ञान मिलता ह। जहाँ विचार-मथन और प्रयोग, दोनो एक हो जाते है, घुल-मिल जाते है, उसे ही 'नयी तालीम' कहते है। जहाँ कुछ विचार-मथन चलता है, परन्तु उसे आचरण का आधार नही मिलता, वहाँ पर पुरानी तालीम चलती है, जो आज सर्वत्र चल रही है। जहाँ पर प्रत्यक्ष आचरण चलता है, आचरण के प्रयोग चलते है, परन्तु विचार-मथन, चर्चा आदि नही चलती, वह है कर्मयोग, जो आज असख्य किसान सचाई से कर रहे है। इस तरह इधर से ये किसान और उधर से वे तत्त्वज्ञानी, दोनो मिलकर जो चीज बनती है, वह है, नयी तालीम के शिक्षक और विद्यार्थी।

गोपाल कृष्ण

इसकी मिसाल भगवान् गोपाल कृष्ण है। इधर तो वे गाये चराते थे, घोडो की सेवा करते थे, लडाई लडते थे और उधर गीता भी सुनाते थे। जो भी सेवा-कार्य सामने आया, उसे करने के लिए वे राजी थे और उनका हृदय निरतर तत्त्वज्ञान मे भरा रहता था। मैने भगवान् श्रीकृष्ण की मिसाल इसलिए दी कि उन्होने तत्त्वज्ञान मे अपने पूर्वजो का सिर्फ अनुसरण नही किया, बल्कि उसमे वृद्धि की। उनके पहले ज्ञानयोग चलता था, कर्मयोग

चलता था और भक्तियोग चलता था। ध्यानयोग भी चलता था और गुण-विकास की प्रक्रिया भी साख्यो ने अलग से चलायी थी। उन सब चीजो का समन्वय करके भगवान् कृष्ण ने दुनिया के सामने एक नयी चीज उपस्थित की, इसलिए हम श्रीकृष्ण को जगद्‌गुरु कहते है। उन्होने दुनिया को नयी वस्तु दी है। उन्होने कर्मयोग किया, तो उसमे भी पहले के किसानो का और उद्योग करनेवालो का न सिर्फ अनुसरण किया, बल्कि उसमें वृद्धि की। उन्होने लोगो को इद्र की उपासना से हटाकर पर्वत की उपासना सिखायी उन्होने गायो की इतनी प्रतिष्ठा बढायी कि हिन्दुस्तान मे उनका नाम आज तक गोसेवा के साथ जुडा हुआ है और एकनाथ महाराज ने तो बडे गौरव के साथ लिखा है कि प्रभु रामचद्र के अवतार में सब प्रकार से पूर्णता थी, लेकिन एक कमी रह गयी थी, जिसे पूर्ण करने के लिए उन्होने कृष्ण का अवतार लिया। वह कमी यह थी कि रामावतार में गायो की सेवा नही हो सकी थी इसलिए उन्होने कृष्णावतार लिया। उन्होने समाज के कर्मयोग में गोसेवा के रूप मे वृद्धि की।

तत्त्वज्ञान और कर्मयोग

भगवान् कृष्ण ने तत्त्वज्ञान मे, सामाजिक क्षेत्र मे और उद्योग में वृद्धि की। उन्होने समाज को एक नया तत्त्वज्ञान दिया और एक नया कर्मयोग दिया। इसका मतलब यह नही कि उनके तत्त्वज्ञान को पुराना आधार नही था और उन्होने बिलकुल ही नयी चीज दुनिया को दी। पुराना आधार तो था ही, परतु नया मिष्ठान्न दुनिया को दिया। उनके पहले घी था, गुड था और

गेहूँ था, परतु उन्होने उसकी नयी मिठाई बनायी। जब लड्डू बनता है, तो घी, गुड और गेहूँ से एक स्वतत्र वस्तु बनती है। उनके पहले तत्वज्ञान के जो मूलभूत विचार थे, उनको जोडकर उन्होने तत्वज्ञान के लड्डू बनाये। उनके पहले गाय की सेवा की कोई कल्पना न थी, ऐसी बात नही है। परतु उन्होने गो-पूजा को स्वतत्र स्थान दिया। उन्होने गाय की सेवा को उपासना का रूप दिया। हिंदुस्तान के सामाजिक क्षेत्र मे उनका यह स्वतत्र दान है। यहाँ पर मै कृष्ण-चरित्र कहने नही बैठा हूँ। लेकिन मैने मिसाल ऐसे शख्स की दी, जो सारा सामाजिक कार्य आध्यात्मिक दृष्टि से करता था और जिसके जीवन मे ज्ञान और कर्म की दोनो धाराएँ एक हो गयी थी।

बुनियादी शिक्षक का आदर्श

बुनियादी शिक्षक को यही आदर्श सामने रखना चाहिए। बुनियादी शिक्षक किसी भी किसान से, बुनकर से या बढई से कम कुशल नही होगे, बल्कि ज्यादा कुशल होगे। किसान, बढई आदि को जो चीजे नही सूझती होगी, वे इन्हे सूझेगी। किसान, बढई आदि अपने काम में जो रफ्तार हासिल नही कर सकते, वह रफ्तार इन्हें हासिल होगी और औजारो मे सुधार करने की जो बात उन्हें नही सूझती होगी, वह इन्हे सूझेगी। किसान को अगर अपनी रोटी हासिल करने में आठ घटे लगते होगे, तो बुनियादी शिक्षक कहेगा कि यह काम चार घटे मे हो सकता है। इतनी प्रगति उसको करनी चाहिए। इन दिनो मैने जहाँ कही बुनियादी शिक्षण के केंद्र देखे है, वहाँ पर शिक्षक लोग कुछ उद्योग

जानते है, परन्तु प्रतीक जैसे जानते है। जैसे मछली पानी में तैरती है, खेलती है, वैसे वे शिक्षक उद्योग मे तैरते या खेलते नही। भगवान् श्रीकृष्ण योद्धा थे, तो खेलनेवाले और तैरनेवाले योद्धा थे, वे मँजे हुए और तज्ञ गोसेवक थे। इस तरह के कर्मयोग के प्रयोग हमारे इन विद्यालयो मे चलने चाहिए।

अनुभवजन्य ज्ञान

उसी तरह हमारे विद्यालयो मे जो तत्त्वज्ञान की चर्चा चलेगी, वह प्रतिभाशाली होगी और उसमे नित्य-नये विचार सूझते रहेंगे। समाज के ततवज्ञान मे कैसे सुधार करना है, इस पर चितन चलेगा। आज दुनिया मे साम्यवाद की चर्चा है, समाजवाद के भी कई प्रकार दुनिया में चलते है, हमारी सरकार कुछ करने जा रही है, जिसे वे लोग समाजवादी-रचना कहते है। सर्वोदय भी एक चीज है और अपने प्राचीन स्मृतिकारो की बनायी हुई एक योजना है। ये जो सारी प्राचीन और अर्वाचीन जीवन की पद्धतियाँ है, उन सबका अध्ययन यहाँ पर चलना चाहिए।

कुछ लोगो का खयाल है कि बुनियादी तालीम से ज्ञान का माद्दा कम रहेगा और कर्म का माद्दा ज्यादा रहेगा। लेकिन वे लोग गलत समझे हुए है। वे समझते नही कि दूसरे विद्यालयो मे जो ज्ञान दिया जाता है, वह खोखला रहेगा और यहाँ का ज्ञान ठोस रहेगा। दोनो के बीच इतना बडा फर्क रहेगा, क्योकि यहाँ का ज्ञान अनुभवजन्य होगा और वहाँ का तर्कजन्य। इसलिए उस ज्ञान मे सशय होगा और इस ज्ञान मे निश्चय। वहाँ पर जो ज्ञानी निर्माण होगे, उनसे कम ज्ञानी यहाँ पर निर्माण

होंगे, यह धारणा गलत है। जहाँ पर ज्ञान और कर्म का भेद ही मिट जाता है, वहाँ नयी तालीम आती है। अपने आश्रम में हम खाने बैठते थे, तो खाने के साथ जो ज्ञान आवश्यक है, उसका चिंतन-मनन चलता था। हम रसोई करते, तो उसका ठीक हिसाव रखते थे। खाने के बाद हम सब अनाज साफ करने के लिए बैठते थे। इधर तो वह कार्य चलता था और उधर चर्चा चलती थी। हमने उसे 'चर्चा-मडल' नाम दिया था। खाने के बाद मनुष्य को थोडे आराम की जरूरत होती है, इसलिए हम उस काम को आराम ही मानते थे और काम करने की गति की ओर ध्यान न देते हुए आराम से काम करते थे। साथ-साथ दुनियाभर के विषयो पर चर्चा चलती थी, लेकिन उसे पढाई का नाम नही दिया जाता था। इस तरह तालीम दी जाती थी, फिर भी तालीम लेने का नाम नही था—इतने सहजभाव से तालीम दी जाती थी।

गुरु और शिष्य

जब विश्वामित्र ने दशरथ से राम और लक्ष्मण की माँग की, तो उन्होंने यही कहा कि यज्ञ की रक्षा के लिए लडको को भेजिये। राम और लक्ष्मण उनके साथ गये, तो ऐसी सकाम भावना लेकर नही गये कि हमें गुरु से ज्ञान पाना है। ज्ञानार्जन की वासना भी सकाम भावना होती है। इसलिए मैंने आरम्भ मे ही कहा था कि विद्यार्थियो के लिए गुरु-सेवा ही सर्वस्व होनी चाहिए, ऐसा नही मालूम होना चाहिए कि ज्ञान प्राप्त करने के लिए गुरु-सेवा करनी होगी। राम और लक्ष्मण एक सेवा-कार्य लेकर विश्वामित्र के साथ निकले।

ज्ञान-दान की विधि

शाम का समय हुआ, तो विश्वामित्र ने कहा अब सध्या का समय है, तो सध्या के लिए तैयार हो जाइये। फिर सध्या हुई और कुछ ज्ञान-चर्चा भी हुई। उसके बाद विश्वामित्र ने राम-लक्ष्मण के लिए पत्तो का और घास का बिछौना तैयार किया और वे दोनो उस पर सो गये। आप यह चित्र ध्यान मे रखिये कि राम और लक्ष्मण राजपुत्र थे, उनकी उम्र सोलह साल से कम थी, इसलिए वे पिता के वात्सल्य-भाजन थे। तो उन्हे किस प्रकार के बिछौने पर सोने की आदत रही होगी, यह जरा सोचिये। घास के बिछौने पर सोये कि उनका विश्वविद्यालय का कोर्स शुरू हो गया।

दूसरे दिन सुबह हुई, चार ही बजे हो गे, सूरज उगने मे काफी देर थी, लेकिन विश्वामित्र ने उनको जगाया। खुली हवा मे, आसमान के नीचे, पत्तो के बिछौने पर सोये हुए राजपुत्रो को जगाने का काम कितना कठोर है ! उन राजपुत्रो को तो उठाने के लिए बन्दी और चारण गीत गाते होगे और यह कहते होगे कि अभी सूर्य उदय हो रहा है, भृंग गुंजगान कर रहे है, इसलिए हे रामजी ! उठिये लेकिन यहाँ पर सूर्योदय नही हुआ था, सारी दुनिया सोयी हुई थी, ऐसे समय मे विश्वामित्र ने मधुर वाणी से उन दोनो को उठाया। उस समय विश्वामित्र के मन में यह भावना हो रही थी कि मै अपने बच्चो को अमृत पिला रहा हूँ। इस ब्राह्म मुहूर्त मे, इस अमृत वेला मे वे सोये हुए रहेंगे, तो उन्हे अमृत कैसे पिलाऊँगा, यह सोचकर उन्होने उन्हे जगाया।

बाद मे चलते समय उद्ध्वस्त अचल दीख पडा, तो विश्वा-मित्र ने कहना शुरू किया कि यहाँ पर पहले बडा राष्ट्र था, लेकिन आज उसकी ऐसी दशा क्यो हुई है ––इस तरह इतिहास का पाठ चला। आखिर उन्होने उनको धनुर्विद्या भी सिखायी और यह सब करके उनसे यज्ञ की रक्षा करायी।

राम और लक्ष्मण ने यह नही सोचा कि हम किसी विश्व-विद्यालय में दाखिल हुए है और तालीम पा रहे है। वे तो सेवा करने के लिए कर्मयोग के क्षेत्र मे उतरे थे। लेकिन सेवा करते-करते उन्हे उत्तम ज्ञान दिया गया। परन्तु ज्ञान देनेवाले मे भी ऐसी भावना नही थी कि हम ज्ञान दे रहे है और लेनेवाले मे भी ऐसी भावना नही थी कि हम ज्ञान ले रहे है। फिर भी उत्तम ज्ञान दिया गया और लिया गया। यही नयी तालीम का आदर्श है।

मिरगानगुडा, कोरापुट (उडीसा)
१६ जुलाई १९५५

विद्या के तीन अंग : ५७ :

आजकल विद्यालयो मे जो तालीम दी जाती है, उसमें लडको को कुछ-न-कुछ जानकारी दी जाती है, परन्तु स्वतन्त्र ज्ञान-प्राप्ति करनी चाहिए, यह बात नही सिखायी जाती।

बहुत-से लोग कहते हैं कि तालीम मे स्वावलबन का बहुत महत्त्व है। मेरे मन में इसका बहुत गहरा अर्थ है। तालीम मे कुछ उद्योग, शरीर-श्रम सिखाना चाहिए, ताकि बच्चा स्वावलबी बने, इतना ही मेरा अर्थ नही है। शरीर-श्रम तो करना ही चाहिए,

हरएक को अपने हाथ से काम करने का ज्ञान देना ही चाहिए। अगर सभी लोग हाथो से कुछ-न-कुछ परिश्रम करने लग जायगे, तो देश में वर्गभेद नही होगा और देश सुखी होगा, उत्पादन भी वढेगा और आरोग्य भी वढेगा। इस तरह उद्योग से वहुत लाभ होगे। इसलिए कम-से-कम उस अर्थ में तो तालीम में स्वावलम्बन का माद्दा होना ही चाहिए। यह वात सव लोग समझते हैं, परन्तु मेरा अर्थ उतना ही नहीं है।

प्रज्ञा स्वयंभू वने

मै मानता हूँ कि तालीम में ऐसा तरीका अख्तियार करना चाहिए, जिसमे कि लडको की प्रज्ञा स्वयभू वने और वे स्वतन्त्र विचारक वने। अगर विद्या मे यही मुख्य दृष्टि रही, तो विद्या का सारा स्वरूप ही वदल जायगा। आजकल विद्यालयो में अनेक भाषाएँ और अनेक विषय सिखाये जाते है। हर वात में विद्यार्थी को वर्षों तक शिक्षक के मदद की आवश्यकता महसूस होती है। परन्तु विद्यार्थियो को इस तरह तालीम मिलनी चाहिए, जिससे कि विद्यार्थी आगे स्वय ही ज्ञान प्राप्त कर सकें। दुनिया मे अनन्त ज्ञान है। यद्यपि जीवन के लिए उस अनन्त ज्ञान की आवश्यकता नहीं होती, तो भी पर्याप्त ज्ञान की आवश्यकता होती है। लेकिन जीवनोपयोगी ज्ञान किसी स्कूल मे हासिल हो सकता है, यह विचार गलत है। जीवन के लिए उपयोगी ज्ञान तो जीवन से ही हासिल होता है। विद्यार्थियो मे वह ज्ञान हासिल करने की शक्ति निर्माण करना ही विद्यालयो का काम है।

विद्या एक मौलिक वस्तु

लडके के माता-पिता उसको स्कूल की विद्या पूरी करने का आग्रह इसलिए करते हैं कि उसे विद्या पाकर नौकरी मिल सकती है और जीवन अच्छी तरह चल सकता है, लेकिन विद्या की तरफ इस दृष्टि से देखना विलकुल गलत है। विद्या जीवन की एक मौलिक वस्तु है। कहा गया है कि विद्या तो मुक्ति के के लिए है। इसी मुक्ति को आजकल हम स्वावलम्वन कहते हैं। अन्य आलम्बनो से, अन्य सारे आधारो से मुक्ति को ही स्वावलम्वन कहा जा सकेगा। जिसको सच्ची विद्या हासिल होती है, वह सच्चे अर्थ में मुक्त और स्वतन्त्र होता है। इसलिए शरीर के वास्ते कुछ तालीम मिलनी चाहिए और उसके लिए कुछ उद्योग सिखाये जाने चाहिए। वह तो स्वावलम्वन का कम-से-कम अग है। नये ज्ञान की प्राप्ति की शक्ति हासिल होना, उसका एक वडा महत्त्वपूर्ण अश है।

इन्द्रिय-संयम

मुक्ति के लिए और एक तीसरी बात जरूरी है, जो शिक्षण का एक अग है। जैसे मुक्ति के लिए पराधीनता उचित नही है, वैसे ही मुक्ति के लिए विकारवशता भी उचित नहीं है। जो मनुष्य अपनी इन्द्रियो का गुलाम है और विकारो को कावू में नही रख सकता, वह स्वावलम्वी या मुक्त नही है। इसलिए विद्या का यह तीसरा भी अग है, जिसके वास्ते विद्या मे सयम, व्रत, सेवा आदि का समावेश करना पडता है।

स्वावलंबन के तीन अर्थ

इस तरह स्वावलम्बन के तीन अर्थ है। अपने उदर-निर्वाह के लिए दूसरो पर आधार रखना न पडे, यह उसका पहला अर्थ है। उसका दूसरा अर्थ यह है कि ज्ञान-प्राप्ति करने की स्वतन्त्र शक्ति निर्माण हो और उसका तीसरा अर्थ यह है कि मनुष्य मे अपने आप पर काबू रखने की शक्ति होनी चाहिए, इन्द्रियो को और मन को वश करने की शक्ति होनी चाहिए। शरीर की पराधीनता गलत है। मन की पराधीनता गलत है। शरीर पेट के वास्ते पराधीन बनता है। इसलिए मनुष्य को अपनी आजीविका सम्पादन करने का ज्ञान उद्योग के द्वारा मिलना चाहिए। अगर मनुष्य की बुद्धि चिंतन और विचार करने मे स्वतंत्र नही है, तो मनुष्य पराधीन बनता है। इसलिए उसे स्वतंत्र चितन की शक्ति हासिल होनी चाहिए। मन और इन्द्रियो की गुलामी मिटाने की बात भी विद्या से हासिल होनी चाहिए।

माता-पिता अपने लडको की विद्या के बारे मे सोचते समय ये तीन विचार सामने रखेंगे, तो उन्हे बहुत सुख हासिल होगा। माता-पिता को इसी बात से सुख मिलता है कि उनके बच्चे सुखी और समर्थ हो और लोगो में उनके लिए इज्जत हो। केवल लडको को नौकरी मिल गयी और उनकी शादी वगैरह का इतजाम हो गया, तो उनके लिए सारी व्यवस्था हो गयी, यह मानना ठीक नही है।

तेरुवली, कोरापुट (उडीसा)
२० अगस्त १९५५

चौबीस घंटे आनन्द : ५८ :

विद्या का लय

विद्यालय के दो अर्थ होते है। एक अर्थ यह है कि जहाँ विद्या का लय होता है, विद्या लोप होती है। दूसरा अर्थ यह है कि जहाँ विद्या का स्थान है, घर है, निवास है।

पहले अर्थ के विद्यालय तो हमारे देश मे हजारो है। लोग खुद पढते है, परीक्षा देते है, मानो कोई जुलाव ले लिया हो। वैसे ज्ञान का रेचन हो जाता है, सारा ज्ञान खतम हो जाता है। जिस विद्यार्थी को परीक्षा मे सौ मे से अस्सी अक मिले थे, उसे पन्द्रह दिन के वाद कुछ प्रश्न पूछे गये, तो वह फेल हो गया। हमने ही उसकी यह परीक्षा ली थी। उस लडके ने हमसे कहा कि पन्द्रह दिन के वाद हम वहुत भूल गये है। परीक्षा के लिए वहुत-कुछ तैयार कर रखा था। परीक्षा की तारीख अगर अठारह होती और परीक्षा सतरह तारीख को होती, तो भी दस-वीस अक हमे कम ही मिलते। यह वात सव शिक्षक जानते हैं कि हमारे विद्यालय में विद्या का लय होता है। लेकिन वे तो कहते हैं कि हमने अगर सौ रुपये विद्या दी होगी और तीस रुपया विद्या शिष्य को मिल गयी, तो भी वहुत मिल गया। हम उसे पास करते हैं।

विद्यालय का कार्यक्रम

विद्यालय का कार्यक्रम कैसा होना चाहिए, यह सवाल है। उसका सूत्र हम वता देते है।

विद्यालय मे परमेश्वर का आनन्दस्वरूप प्रकट होना चाहिए ईश्वर के रूप तो अनन्त है, पर उसके तीन रूप बडे प्रसिद्ध है। एक है सत्य, दूसरा है चित् याने ज्ञान और तीसरा है आनन्द। कर्मयोग मे, ससार में, जीवन मे सत्य प्रधान होता है। ज्ञानियो की गुहा मे और विद्वानो के पुस्तकालय में ज्ञान प्रधान होता है। भक्ति मार्ग मे आनन्द प्रधान होता है। विद्यालय याने भक्ति-मार्ग, याने यहाँ हर चीज जो की जायगी, वह आनन्द के लिए ही की जायगी।

भोजन का आनन्द

खाने मे तो जो भक्ति-मार्ग से बाहर है, वे भी आनन्द महसूस करते है, परन्तु रसोई में आनन्द नहीं महसूस करते। लेकिन शाला मे तो बच्चे आनन्द के लिए रसोई बनायेंगे। उसमें उन्हे खूब आनन्द आयेगा। रोटी कैसे फूलती है, यह देखकर उन्हे बहुत आनन्द आयेगा। लकडी जल रही है और दूध उफन रहा है, यह देखने में उनको बडा मजा आयेगा। गोल-गोल घुमाते है, तो रोटी कैसे गोल-गोल बनती है, चावल पकते है, तो पतीली में वे कैसे नाचते-कूदते है, यह सारा देखने में बच्चो को बहुत मजा आयेगा। यह सारा आनन्द उपभोग करने के लिए वे लोग रसोई करेंगे और खायेंगे भी आनन्द के लिए। आनन्द के लिए माप-तौलकर खायेंगे। अगर तरकारी मे माप-तौलकर नमक न डाला हो, बहुत नमक डाल दिया हो, तो आनन्द कैसे मिलेगा? तरकारी तब अच्छी लगती है, जब माप-तौलकर उसमे नमक डाला गया हो। भोजन को पेट में खूब ठूंस दो, तो फिर आनन्द नहीं

होगा। पेट दुखेगा, फिर रोना पडेगा, डॉक्टर को बुलाना होगा। ये सब तकलीफे हम भोगना नही चाहते। हमारा भोजन आनन्द के लिए होगा। दूसरे लोग खाते है, तो उन्हे जसी बहुत तकलीफ होती है, वैसा हम नही करेगे। भोजन के बाद हम बडे मजे में बरतन माँजेंगे।

सोने का आनन्द

आलसी लोग रात को दस-दस, ग्यारह-ग्यारह बजे तक जागते है, सिनेमा देखते है और कष्ट सहन करते है। वैसे कष्ट हम नही सहन करेगे। हम बराबर आठ बजे प्रकृति की गोद मे आनन्द के लिए सो जायेंगे। अभागे लोग रात मे देर से सोयेगे, फिर सपने देखेगें, मानो राक्षस उनकी छाती पर बैठा हो। हम तो ऐसी सुन्दर निद्रा लेंगे कि सपना ही नही देखेगे। बडा आनन्द आयेगा। हमारा कार्यक्रम बडे आनन्द का होगा। साढे आठ बजे घण्टी बजी कि हम फौरन सोये।

बोधगया मे सर्वोदय-सम्मेलन हुआ था। वहाँ पर दिनभर तो बडा ज्ञान का तमाशा चला, रात मे लोगो ने आनन्द करना चाहा। बोले, सास्कृतिक कार्यक्रम होगा। हमने पूछा, कब से चलेगा? बोले, आठ बजे शुरू होगा और दो घण्टे चलेगा। हमने उत्तर दिया कि उसमें हम नही जाना चाहते। हमारे लिए दो घण्टे का सास्कृतिक कार्यक्रम नाकाफी है। हमारा सास्कृतिक कार्यक्रम तो आठ बजे शुरू होगा और तीन बजे तक चलेगा, सात घण्टा हम बराबर नीद लेगे। सबसे बढिया सास्कृतिक कार्यक्रम यह है। सोने का आनन्द नही खोना चाहिए।

ब्रह्मवेला का आनन्द

चार बजे सुबह उठने का कार्यक्रम भी कितना आनन्द का है। ठण्ड में उठेंगे और दौड़ेंगे। फिर ठण्ड भी दौड़ेगी। हम सोते हैं, तो ठण्ड भी हमारे साथ सोती है। शरीर थरथर कांपता है। हम बैठते हैं, तो ठण्ड भी हमारे पास बैठती है। हम दौड़ना आरम्भ करते हैं, तो ठण्ड भी दौड़ जाती है। सुबह उठने मे और दौड़ने मे उत्साह आता है। इसलिए सुबह उठने का आनन्द और फिर दौड़ने का आनन्द हम नही छोड़ेगे।

नाश्ते का आनन्द

सूर्योदय के बाद शरीर स्वच्छ करेंगे। आँख, कान, नाक धोयेंगे। शहर के लोग तो मुंह धोने के पहले ही चाय पीते हैं। कल का बरतन अगर मांजा नही, तो उसीमें पकायेंगे। यह कैसे चलेगा? हमारा मुंह भी तो एक बरतन है। ऐसा गन्दा मुंह रखकर लोग चाय पीते हैं। फिर दांत बिगड़ते हैं, पस बहता है और वह खाने में पेट के अन्दर चला जाता है। सुन्दर-सुन्दर मिठाई के साथ पस भी अन्दर चला जाता है। फिर बीमारी आती है। तब नौबत आती है दांत निकालने की। इसलिए सुबह उठकर शरीर को स्वच्छ-निर्मल करेंगे। उसके बिना खायेंगे नही। स्वच्छ होकर हम थोड़ा जलपान करेंगे। पचास चीजे पेट मे नही डालेंगे। पचास प्रकार डालेंगे, तो पेट को मालूम ही नही होगा कि क्या काम करना चाहिए। एक ही हंडी मे तरकारी, दाल, रोटी, सब डालेंगे, तो कैसे पकेगा? कोई चीज दो घण्टे मे पकती है। कोई चीज ऐसी होती है, जो चार घण्टे में पकती है और कोई चीज ऐसी

होती है, जो छह घण्टे में पकती है। दाल-भात खा लिया, तो चार घण्टे में पचेगा। दूध दो घण्टे में पचेगा। पचने के लिए अलग-अलग समय लगता है। सारी चीजें एकदम पेट मे डालते है, तो बडी गडबड हो जाती है। इसलिए सुबह के नाश्ते मे कुछ हलका-सा खाना चाहिए।

खेती का आनन्द

खाने के बाद हम कुदाल लेकर मजे से खेत में जायेंगे। खूब खेती करेंगे। मजेदार खेती आयेगी। बोना है, पौधा है, तो पानी देना है, कही काटना है, कही इधर की मिट्टी उठाकर उधर डालनी है। खेत में कही टीला है, कही गड्ढा। यह कैसे चलेगा ? टीले को तोडकर सब समान बनाना होगा। बचपन मे ही बच्चे यह काश्त करने का आनन्द सीखेंगे, तो बडे होकर दूसरा आनन्द भी उन्हें मिलेगा।

पढाई का आनन्द

फिर थोडा पढने का आनन्द होगा, लिखने का आनन्द होगा, कुछ थोडा याद रखने का आनन्द होगा, सगीत-पढने-का आनन्द होगा, चित्रकला का आनन्द होगा। इस तरह कुल मिलाकर चौबीस घण्टे आनन्द का कार्यक्रम होगा। इसको कहते है, भक्ति-मार्ग। यही विद्यालय का कार्यक्रम होगा।

छुट्टी का सवाल ही नहीं

आज तो लोग बच्चो को आठ घण्टे मिल मे ठूंस करके, खानो में डाल करके उनसे काम लेते है। याने सुबह आठ बजे

से शाम को चार बजे तक दुःख का कार्यक्रम। उसके बाद कहते हैं, एक घण्टा आनन्द करो और खेलो। स्कूल में न हाथ को काम है, न पाँव को। लगातार बैठे रहते हैं। पाँच-पाँच घण्टे बैठने से बच्चे बेचारे तंग आ जाते हैं। छह दिन स्कूल होता है, तो ये लोग सोचते हैं कि दे दो इनको एक दिन की छुट्टी। याने छह दिन कुट्टी और एक दिन छुट्टी। हम कहते हैं कि यह हमारा स्कूल नहीं है, हमारे यहाँ छुट्टी नहीं रहेगी, क्योंकि हमारे यहाँ कुट्टी नहीं रहेगी। इस तरह हमारे जीवन का आनन्दमय कार्यक्रम रहेगा।

कुजेन्द्री, कोरापुट (उडीसा)
२६ सितम्बर १९५५